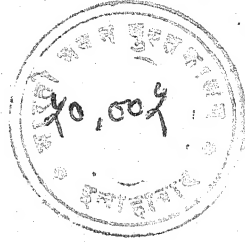




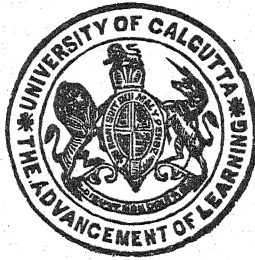
THE BHELA SAMEITA



THE
BHELA SAMHITA



SANSKRIT TEXT



Published by the
University of Calcutta

1921

PRINTED BY ATULCHANDRA BHATTACHARYYA,
AT THE CALCUTTA UNIVERSITY PRESS, SENATE HOUSE, CALCUTTA.



NOTE

This Volume reproduces the text of the *Bhela Samhita*. According to Dr. Hoernle (Studies in the Medicine of Ancient India, Oxford, 1907) the theory of the Ancient Indians regarding Medicine has been transmitted to us in three different systems, namely, the systems of Atreya, Susruta and Vagbhata. Atreya is said to have flourished in the sixth century B. C. and to have had six pupils, each of whom is reputed to have committed to writing the teaching of the master in the form of a Samhita or compendium. But at present not more than two of them are known to us, namely, the compendia of Agnivesa and Bhela. The former does not appear to have survived in its original form and exists at present only in the redaction undertaken by Charaka. On the other hand, the compendium by Bhela has come down to us in a single manuscript which is written in Telegu character. This manuscript is taken by Dr. Hoernle to have been written about 1650 A. D. and is preserved in the Palace Library in Tanjore (Burnell's Catalogue, No. 10773). Copies have been made from time to time from this unique manuscript. Dr. Hoernle had a copy made for him by order of the Government of Madras in 1905. Dr. Cordier had a copy made at an earlier date.

I have two copies made on two different occasions by two different scribes at an interval of about ten years. The manuscript is said to be in a fragile condition and has rapidly decayed. It has been considered desirable to reproduce the text in its present condition with a view to make it accessible to scholars and to facilitate the study of one of the most ancient monuments of Indian medicine. Professor Aufrecht (Cat. Cat. 416) notices another manuscript, Radh 32, in a library in Lahore, but Dr. Hoernle was not able to verify its existence. The Tanjore manuscript is obviously incomplete and is in some places unintelligible. Vedantabisharad Ananta Krishna Shastri, University Lecturer in Sanskrit, who has read through the proofs, has suggested emendations, which are either enclosed in brackets or inserted in footnotes. It is proposed to publish an English version of the text with critical apparatus and introduction.

CALCUTTA,
30th September, 1921. }

ASUTOSH MOOKERJEE.



विषयानुक्रमणिका ।

सूत्रस्थानम् ।

| | पृष्ठसं |
|---|---------|
| लेपनाम्यञ्जनादिना कुष्ठचिकित्सा ... | १—३ |
| अत्यशनादिकृतदोषाः मात्राशनकृतगुणाश्च ... | ४—५ |
| धारणीयवेगानामधारणीयवेगानां च निरूपणम्, दन्त- धावनं धूमपानप्रकाराः तद्वृणाश्च ... | ६—१० |
| स्त्रीसंभोगयोग्यावस्थाकालादिः ... | १०—११ |
| अत्यासनादिदोषाः, मात्राऽऽसनादिगुणाः चिरजीवनेच्छूनां कर्तव्यानि च ... | १२—१३ |
| चतुष्पादचिकित्सितस्यैव फलवत्त्वादिविवेकः, भिषगातुरादि लक्षणं च ... | १४—१७ |
| आमाशयदोष निमित्ताशनादिकं तन्निरासौषधानि च ... | १७—१८ |
| रस-रक्त-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्ल-गर्भ-व्यापत्तिज- व्याधिनामानि ... | १८—२० |
| रसविभागः, रसातिसेवनदोषः, चिमिचिमिव्यतिरिक्त- मत्स्यानां सदुग्धं भोजनौचित्यमित्यादिकम् ... | २०—२१ |
| जनपदविशेषेण रोगविशेषनिर्णयः ... | २२—२३ |
| चिकित्साप्रभृतकर्तव्य वमनविरेचनादिकालव्यवस्थादिकं एषणात्रयस्य त्रिवर्गानुपरोधेन प्रयोगफलम् ... | २४—२५ |
| वातोत्कर्षनिमित्तानि, तद्विभागश्च ... | २६—२८ |
| दशप्राणायतनानि, सूत्रस्थानाद्यध्यायेयताव्यवच्छेदः तद्विज्ञस्यैव चिकित्सकत्वं निर्णयश्च ... | २८—२९ |
| विषसंस्मृतानादिरूपाणि ... | २९—३२ |

पृष्ठसं

| | |
|---|-------|
| सुरापानगुणाः, तस्या यथायोगं समाचरणं च ... | ३२—३३ |
| विरेचनादिना नाश्वरोगविशेषाः विरेचनाद्यावश्यकता च | ३३—३४ |
| स्वेदविभागः, स्वेदचिकित्स्यरोगाः स्वेदनप्रकाराश्च ... | ३६—३७ |
| गदपुरीषनिमित्तरोगाः, तत्र विरेचन चिकित्सा च ... | ३८—३९ |
| ऋतुभेदेन चिकित्सादिभेदनिर्णयः ... | ३९—४१ |
| उदकुष्ठहृद्रोगाद्विरोगादिलक्षणानि तद्विभागश्च ... | ४२—४४ |
| सानुपानभोज्यनिर्णयः ... | ४४—४७ |
| पथ्यापथ्य-शालि-तैल-कषाय-शाक-मांस-गुणाः ... | ४७—५१ |

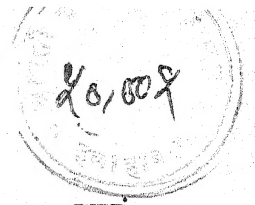
निदान स्थानम् ।

| | |
|--|-------|
| सहजादिचतुर्विधक्षयलक्षणम् ... | ५२—५३ |
| वात-पित्त-श्लेष्म-निचय-लोहित-गुल्मलक्षणानि ... | ५४—५६ |
| वात-पित्त-क्षत-क्षय-कासलक्षणानि ... | ५६—५७ |
| कुष्ठनिमित्तानि सलक्षणतद्विभागश्च ... | ५८—६० |
| प्रमेहनिमित्त-लक्षण-विभागाः ... | ६१—६३ |
| वात-पित्त-कफ-सन्निपातापस्मारलक्षणानि ... | ६३—६५ |

विमानस्थानम् ।

| | |
|--|-------|
| रसगुणदोषविवेचन-दोषसमान-तदुपशमरस-तदुपरोधि | |
| भोज्यभोजननियम-समाग्नि-प्रशंसाः ... | ६६—६८ |
| दुर्बलाग्न्यादिलक्षणचिकित्साः, भेषज-भोज्यविभागः | |
| वातादिशमनविरेचनादिकं च ... | ६८—७० |
| व्याधिपरीक्षाक्रमः, वात-पित्त-श्लेष्म-संश्लिष्ट प्रकृति- | |
| लक्षणानि च ... | ७१—७३ |
| गुरुव्याधिविमानम्, सुस्तारग्वधाद्यास्थापने च ... | ७३—७४ |
| षड्रतुविमानानि ... | ७४—७६ |

शरीरस्थानम् ।



पृष्ठसं

| | | | |
|---|-----|-----|-------|
| वयःक्रमेण सत्त्वविवृद्धिद्वय-वन्ध्यात्वनिमित्तेन्द्रियप्रतिनियत- स्वभावाः | ... | ... | ७७—७८ |
| गर्भधारणक्रम-पुंस्त्रीक्रीवयमलसात्त्विकादिगर्भनिमित्तानि आलोचकादि जाठराग्निलक्षणस्वरूपस्थान परिमाणादिकम्, विषूचिकादिनिमित्तं सिरासंस्था च | ... | ... | ७८—८० |
| अपस्मारनिमित्तनिर्णयः, गर्भे कस्यावयवस्य प्रथममुत्पत्ति- रिति विचारः, गर्भवृद्धिक्रमावस्थानप्रकारादि- निर्णयश्च | ... | ... | ८०—८३ |
| योनिभेदेन स्त्रीपुमादिशरीरोत्पत्तिनिमित्तम्, षट्काय- धातुविवेकः, ब्राह्मादिकायनिरूपणादिकं च | ... | ... | ८३—८८ |
| गर्भस्य नानाभूतारब्धस्य मातृपितृसामग्रसमुदायजत्व- विवेचनम् | ... | ... | ८८—९१ |
| शरीरगतत्वगस्थिहृदयेन्द्रियकोष्ठप्रत्यङ्गजलरसशोणित संख्या- परिमाणनिर्णयः देहान्तरसंक्रमकामादिकं च | ... | ... | ९१—९४ |
| अवन्ध्यात्वनिमित्तम्, बीजवृद्धिक्रमः, अवदातादिपुत्रोत्पत्त्यर्था नियमाश्च | ... | ... | ९४—९५ |
| गर्भिण्या आहारनियमाः, प्रसवचिकित्सा च | ... | ... | ९५—९६ |

इन्द्रियस्थानम् ।

| | | | |
|--|-----|-----|---------|
| एक द्वित्रिचतुरादिमासजीविनां अल्पायुषां च लक्षणानि | ... | ... | ९७—९८ |
| भाविस्यस्थताचिह्नादीनि | ... | ... | ९८—९९ |
| गतायुर्लक्षणानि | ... | ... | ९९—१०० |
| सद्यो मरणचिह्नानि | ... | ... | १००—१०२ |
| सुमूर्षुपूर्वरूपाणि | ... | ... | १०२—१०४ |
| सामान्यविशेषाभ्यां मरणलक्षणादीनि | ... | ... | १०४—१०६ |

| | | |
|--|-----|---------|
| प्रत्याख्येयदूतस्य प्रश्नचेष्टास्वरूपाणि ... | ... | १०६—१०८ |
| शिरश्चूर्ण-कर्णरक्तता-केशदाह-मित्थारोगारत्यादिभिररिष्ट- विज्ञानम् ... | ... | १०८—११० |
| ह्यायया रक्तपित्तासाध्यत्वादिनिर्णयः ... | ... | ११०—१११ |
| मरणसूचनस्वप्नविशेषाः ... | ... | ११२—११३ |
| जीवितात्ययपूर्वकालिकचिह्नानि ... | ... | ११३—११५ |

चिकित्सास्थानम् ।

| | | |
|---|-----|---------|
| ज्वरोत्पत्ति-गुण-विभाग-तत्सामान्यचिकित्सा ... | ... | ११६—११८ |
| पित्त-शोत-ज्वरचिकित्सा, भोज्याभोज्यनिर्णय-वमनकाल- ज्वरपुनर्भवनिमित्त-तच्छान्त्यादयः ... | ... | ११८—१२० |
| विषमज्वरनिमित्तानि, तत्र महापंचगव्य पञ्चगव्य-वृष- पंचकोल-द्रव्यषणादि-महापैशाचघृतादि चिकित्सा च | ... | १२०—१२४ |
| चिकित्स्याचिकित्स्य रक्तपित्तनिमित्त-पूर्वरूपाणि ... | ... | १२४—१२६ |
| शोषनिमित्तस्वभावौ, शोषिभोज्यमांसादिनिर्णयः, तत्र क्रथ्यादादिघृत-पञ्चमूल्यादिरसायनगुडसर्पिर्मांदक- तिलमोदकाश्वत्थमूलकादि मोदकादिचिकित्सा च | ... | १२६—१३१ |
| सुकुमार-शतपाक-सहस्रपाक सुकुमार-तैले, तद्गुणाश्च ... | ... | १३२—१३४ |
| दशाङ्ग-दाधिक-षट्पल-सानुपानक्षीरविशेष-क्षारघृतै- र्वातादिगुल्मचिकित्सा ... | ... | १३५—१३८ |
| अष्टादशकुष्ठलक्षणानि, तत्र तत्पूर्वरूपाणि, साध्यासाध्य- विवेकः, जलूकादिना रक्तनिर्हरणादिना तच्चिकित्सा, रक्तविकाराश्च ... | ... | १३८—१४२ |
| कुष्ठिनां धान्वन्तरघृत प्रयोग-सगोत्रहरिद्राचूर्णादिपानोद्घ- क्षीरपानादि चिकित्सा, खर्जकादिबाह्यलेपश्च ... | ... | १४३—१४५ |
| श्लेष्मादिप्रमेह चिकित्साविशेषाः ... | ... | १४६—१४८ |

| | | |
|---|-----|---------|
| उन्मादनिमित्तलक्षणादोनि, अपस्मारचिकित्साया दाधिक | | |
| सर्पिरादिपानेन वा तच्चिकित्सा च | ... | १४८—१५२ |
| अपस्मारनिमित्तलक्षणे, कल्याणघृतादिभिस्तच्चिकित्सा च | | १५२—१५३ |
| अतिसारनिमित्तानि, आम-श्लेष्म-पित्त-वातातीसारादि- | | |
| चिकित्सा, योगाश्च | ... | १५४—१५८ |
| विषूचिकालक्षणचिकित्सादिकम् | ... | १५८—१६० |
| अर्दितस्य स्नेहपानादिचिकित्सा | ... | १६०—१६१ |
| ग्रहणोनिमित्तव्याधयः, तच्चिकित्सा च | ... | १६२—१६३ |
| मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा | ... | १६३—१६४ |
| अष्टोदरलक्षणानि, तच्चिकित्सा च | ... | १६५—१६८ |
| बङ्गुदोदरे शस्त्रक्रिया, उदरेऽक्षिकर्मादि भङ्गातक योगाश्च | | १६८—१६८ |
| वंशक-रास्नादियोगादिभिरुरुस्तंभचिकित्सा | ... | १७०—१७२ |
| वात-पित्त-श्लेष्मवोसर्प-वातशोणित-निमित्त-लक्षण | | |
| चिकित्सा: | ... | १७३—१७६ |
| अशोनिमित्तलक्षणानि, बलादिघृत-लोघ्रादियोगशङ्करी- | | |
| घृत-तालीसपत्रवटक-शस्त्रक्रिया-लेपनादि | | |
| चिकित्सा च | ... | १७७—१८४ |
| वातिकादिश्वयथुनिमित्तलक्षणे, तत्रायेरजीयरसायनेन | | |
| सानुपानविशेषेण चिकित्सा च | ... | १८४—१८८ |
| उदावर्तनिमित्त-लक्षण-चिकित्सा: | ... | १८८—१८८ |
| सान्निपातिकहृदोगनिदानचिकित्से, तत्र भङ्गातक घृतं च | | १८०—१८२ |
| कासनिमित्तवातादिकोपलक्षणे, कासिनो भोज्या- | | |
| भोज्यादिनिर्णयः, कल्याणकघृतलेहविशेषादिभि | | |
| स्तच्चिकित्सा च | ... | १८३—१८५ |
| दशमूल्यादिलेपनेन शङ्खकचिकित्सा | ... | १८५—१८६ |
| सूर्यावर्तान्तवातार्धावभेदकानां शिरोरोगाणां निमित्त- | | |
| लक्षणे, कल्याणघृतादिभिस्तच्चिकित्सा च | ... | १८६—१८८ |

| | | | |
|--|-----|-----|---------|
| कण्ठरोगनिमित्त चिकित्स्विते, तत्र कवलग्रहविशेषाश्च | ... | ... | १८८—१८८ |
| गलशुण्डिकाकर्णरोगचिकित्से | ... | ... | २००—२०१ |
| दूषणदि तैलेन रक्तजादि कर्णशूलचिकित्सा, क्रिमिज- कर्णरोगलक्षणादि च | ... | ... | २०१—२०२ |
| अजोर्णं दिवाभुक्तस्यादूषकत्वं अजोर्णनिमित्तरोगाश्च | ... | ... | २०२—२०३ |
| निद्रादिनिमित्तम् | ... | ... | २०३—२०४ |
| मूलक-बला-रास्त्रा-सहचरतैलादिभिरामवात-पक्षाशयादि वातचिकित्सा | ... | ... | २०४—२०८ |
| सनिमित्तलक्षणचिकित्स-साध्यासाध्यप्लीहविवेकः | ... | ... | २०८—२१० |
| अपतन्त्रनिमित्तलक्षणचिकित्साः, तत्र सौवर्चलविभीतक चूर्ण-हरीतक्यादिष्टत-काकादनीपाचनादिकं च | ... | ... | २११—२१३ |
| सनिमित्तलक्षणादितचिकित्सा, तत्र व्रणरोपणतिल- कल्क-त्रिफलतैलादीनि च | ... | ... | २१३—२१५ |
| मद्यगुणदोषविवेक-मदालयदोषैः, परिमितमद्यगुणादयश्च | ... | ... | २१६—२१७ |
| पानालयचिकित्सायां पानकविशेषादिकं पानालयवर्ज्य- भोज्याः | ... | ... | २१८—२२० |
| वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपात-पानालयचिकित्सा | ... | ... | २२१—२२३ |

कल्पस्थानम् ।

| | | | |
|--|-----|-----|---------|
| मदनकल्पप्रयोगः तद्गुणाश्च | ... | ... | २२४—२२५ |
| इक्ष्वाकुगुडिकायोगादिः इक्ष्वाकुकल्पप्रयोगविशेषाश्च | ... | ... | २२६—२२७ |
| धामार्गवकल्पप्रयोगाः, धामार्गवगुडिकाः, उत्पलादि- लोगेन वमनं च | ... | ... | २२७—२२८ |
| कुटजकल्पप्रकाराः | ... | ... | २२८—२३० |
| चतुरङ्गलकल्पप्रकाराः, सानुपानभस्मातकयोगश्च | ... | ... | २३०—२३३ |
| दन्तीफलकल्पप्रकाराः | ... | ... | २३३—२३४ |

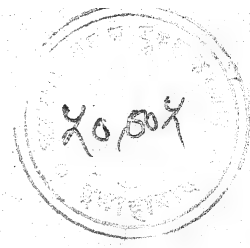
| | | | |
|---|-----|-----|---------|
| शंखिनोतैलकल्प-शंखिनोचूर्ण-शंखिनोफलकल्प-शंखिनो- मोदकयोगादयः | ... | ... | २३५—२३६ |
| श्यामाचित्रचूर्णयोगविशेषाः, त्रिवृन्मोदकलेहादयश्च | ... | ... | २३७—२३८ |

सिद्धिस्थानम् ।

| | | | |
|--|-----|-----|---------|
| वमनविरचनयोर्देशकालभोज्यपरिमाणादिविवेकः, | | | |
| वमनौषधक्रमादिकम्, सम्यग्वातादिलक्षणाणि च | | | २४१—२४४ |
| नस्यविभागः शीर्षविरचनादिचिकित्स्यरोगाः, सगुण- शीर्षविरचकविशेषाश्च | ... | ... | २४४—२४५ |
| नस्यचिकित्स्यरोगाः, सगुणनस्यतैलघृते, अस्निग्धादि लक्षण-निरुहयोग्यनिर्णयादिकं च | ... | ... | २४६—२४७ |
| वमनप्रयोज्यौषधानि, दुष्प्रयोगनिमित्तदशव्यापन्निरा- सार्थानुवासनादिः, आभ्रानादिप्रत्येकनिमित्त विवेकश्च | ... | ... | २४७—२४८ |
| वमनाद्ययोगातियोगयोर्व्यथायोगं स्नानुवासनविरचकादि चिकित्सा | ... | ... | २४८—२५१ |
| रक्तशूल-रक्तातियोगातिसार-गुदभ्रंश-विबन्धादीनां यथा- योगं वमनऽऽस्थापन-कोरदूषौदनभोजनादि चिकित्सा च | ... | ... | २५१—२५४ |
| विरिक्तनिरुढादीनां वस्तिकर्मदोषाः, वस्तिनिदानं च | ... | ... | २५४—२५७ |
| वस्तिनिरुहप्रयोगः, वस्तिनिरुहगुणाः, निरुढलक्षणादिकं च | ... | ... | २५७—२६० |
| निरुहे फलोत्कर्षव्यवस्था, वात-पित्त-श्लेष्मनाशन निरुहाः | ... | ... | २६०—२६८ |
| निरुहार्थकषायपरिमाणादिः, शीतमधुरादिनिरुह- गुणदोषविवेकः, पित्तादियोग्यनिरुहविशेषाः, पिच्छावस्तिश्च | ... | ... | २६२—२६५ |

| | | | |
|------------------------------|------------------|-----|---------|
| वस्तिनिरुहयोरयोगातियोगदोषाः, | बिल्वादिवस्तिः, | | |
| शतावर्यादिवस्तिः, | रासायनिकवस्तिश्च | ... | २६५—२६८ |
| उत्तरसायनगुणाः | ... | ... | २६८—२७१ |
| शुक्लविवर्धनवस्तयः | ... | ... | २७१—२७२ |

५९/२६



श्रीहरिः शरणम् ॥

भेल-संहिता ।

पिप्पल्यो दीप्यकश्चैव तथा मूषिककर्णिकाः । (२५०)
बिल्वस्य पल्लवाः स्येवा (श्वेता) हरिद्रा तथु (तुल्य) कस्तथा ।
एते कुष्ठं प्रतिघ्नन्ति युक्ताः पानप्रलेपनैः ।
गवां पित्तं शुनः पित्तमलावुक्...य...
... (चारं) हुतं शर्करां च दद्यात्तद्वत्प्रलेपनम् ।
यातुण्डमण्डलीदीपान्मूलान्येळगळस्य च ।
सुरादनि (नीं) सुगन्धां च दद्यात्तद्वत्प्रलेपनम् ।
सुवर्णपुष्पं तथु (कटु) कां श्यामां तेजोवतीं तथा ।
त्रिवृत् संजातकं चैव कुष्ठे (सं) शोधनं विदुः ।
आरग्वधां च भूर्जं च साश्वगन्धां गवादनीम् ।
श्वेतां ज्योतिष्मतीं चैव सूक्ष्मचूर्णं निकारयेत् ॥
गवां पित्तेन तच्चूर्णं सप्तकृत्वस्सुधापि वि (वि) तम् ।
यो ज्या (ज्यं) सर्षपतैलेन स्त (सै) न्यवेन च य (नतः) ।
एतद्वैहृतद्रू (दो) षस्य मि (त) दध्यन्नभोज (जि) नम् (ः) ।
त (अ) नुलेपनमुद्दिष्टं कृमिकुष्ठविनाशनम् ।
गवेदमिति कुष्ठानि खदिरस्थाय (यि) चारति ॥
तावप्रभा (प्युभौ) प्रयुञ्जीत कुष्ठी (ठि) नां कुष्ठशान्तये ।
अथ कुण्डाम्नि (कण्डून्) वृक्षाणां
रहस्यः (रसाः स्युः) कुष्ठिनां हिताः ॥

प्रलेपपतिशेषेषु (परिषेकेषु) खदिरस्तु प्रशस्यते ।
 खदिरोदकषायः स्यात् खदिरोदकभोजनः ॥
 भूयिष्ठमुदकार्थं च कुर्वीत खदिरोदर (क) म् ।
 सारमत्तौ महावृक्षौ धवरोहित (कावु) भौ ॥
 शिंशुपाचाऽश्वकर्णश्च खादिरं बिल्वमाश्रितम् ।
 कदली मुष्करौ हि(ही)ता भद्रोदुम्बलि(रि)काफलम् ॥
 एतैरप्युषितं कुष्ठे गोमूत्रपरिषेचनम् ॥
 सालाश्वकर्णनिर्यासो निर्यासो (सः) कुलिशस्य च ।
 एते कुष्ठ...त्ता(समुत्था)नां व्रणानां स्युः प्रपीडकाः ।
 पुण्डरीकस्य वक्ष्यामि क्रिया(यां)रोगविनाशन(शिनी)म् ।
 आवर्ता शास्त्रलीमूलं फलान्धावल्गुजानि च ॥
 रात्रौ (हि) त्रेण निष्पाद्य दन्तिचित्रकमेव च ।
 पाठां (ठा) हरिद्रे च तथा गवां मूत्रेण योजयेत् ।
 अष्टभागावशिष्टं तत्सादितं सुपरिष्कृतम् ।
 पिवेत्कौ(क) त्वं समुद्वा(त्या)य श्वित्री श्वे(शी)तोदकं पिवेत् ॥
 सर्वतो(तः) (?) परिरलेत्तु स्थापयेच्च(च्छीतवेष्मनि) ।
 भैषज्यापि(हि)ता दोषास्त्वचमस्यानुसंश्रिताः ।
 मण्डलेषु तपस्थोवं (स्फोटान्) जनयन्त्यर्करश्मिभिः ॥
 स्फोटेष्वथ तु जातेषु क्वायायामुपदे(वे)शय(ये)त् ।
 शीताभिरङ्गिः प्रक्षाळ्य भोजयेत्प्रति भोजनम् ॥
 संक्षुब्धं.....धृङ्गोस्तोपरिपूर्णा इवाम्बुदाः (?) ।
 सूच्यग्रेणाथ तीक्ष्णो न वृ(व्य)थयेत्कण्टकेन वा ॥
 चन्दनस्य च यत्सारं वदरात् खदिरस्य च ।
 एतैः पानीयपिष्टैस्तु सर्पिःक्षौद्रसमन्वितैः ।
 पत्रेषु पुष्करिण्यास्तु संविष्टस्याथ दे(लेपयेत्) ।
 ततस्त्वाते पय(येत्) स्फोटान् शीतोदकपरिप्लुतान् ।
 क्षीरिणां चापि वृक्षाणां ततस्संक्षौदयेद्भिषक् ।
 तैः कषायैश्च कल्कैश्च सिञ्चयेत्लेपयेच्च तम् ।

खजूरस्य च बीजानि शङ्खनाभिं च दापयेत् ।
 अञ्ज.....रं पत्रं गौरीशं नीलमुत्पलम् (?) ।
 एषां सूक्ष्मेण चूर्णेन स्रवन्तमवचूर्णयेत् ।
 शङ्खद्राक्षाक्षौद्रयुक्तो दातव्यः परिपोटने ।
 आहारोत्सादनाभ्यङ्गं पूर्वेण विधिना भिषक् ।
 कारयेत्कुष्ठिनामे(तत्त)तः संपद्यते सुखी ।
 न च व्याधिसुपेक्षेत शरीरं(रे)पतितं बुधः ।
 त्वरेव शमने य(शमयेत्त)स्य प्रदीप्तस्येव विश्रमः ॥
 यथा ह्येकान्ततो वृक्षो वर्धते सुखितश्चनैः ।
 तथा शरीरमासाद्य दूरो वर्धति हेमत् (रोगो वर्धत एव तु) ।
 तस्माद्यक्षे मिहि.....अक्षीणस्येव देहिनः (?) ।
 प्रागेवोपचयाद्रोगान् हन्याद्वैद्यो विचक्षणः ।
 त्र्यहात्प्रहाध्रावपिडः (ज्ञापततः) पक्षात्मांसादमेत्तथा ।
 आयने चापि संपूर्णे सिरामोक्षो विधीयते ।
 श्यामाका रकुष्ठिनां.....कुष्ठिनां हिताः ।
 एवं हि वर्तमानानां कुष्ठं प्रशममेति वः ॥
 इत्याह भगवानात्रेयः ॥
 इति भेले चतुर्थोऽध्यायः

अथ अत्याशित्तीयं । (प्र. २०)

अथात्याशित्तीयं व्याख्यास्याम इतिह स्माह भगवानात्रेयः—
 आत्याशीतेन (अथाशितेन) पि...(पीतेन) खादितेन च युक्तितः ।
 बलमाप्यायते जन्तोः सद्योवह्निरिवेन्धनैः ॥
 तेनैवात्यादृतेनेह भोजनेन शरीरजाः ।
 व्याधयस्संप्रवर्धन्ते कायाग्नाव(ति) दूषिते ।
 द्विविधं तु भिषग्विद्यादाहारस्यैव लाघवम् ।

मात्रोऽलघुः स्यादाहारं कश्च द्रव्यलघुः स्मृतः ।
 १द्विविधः गौरवः ... (भु)क्तं (क्ते) ४उच्चमानं निबोधत ॥
 मात्रा गुरुस्तथैव स्यात् द्रव्यतश्च तथा गुरुः ॥
 पुराणशालयो मुद्गाश्शतित्तिरिलावुकाः ।
 एवं प्रकायचान्यत् तद्द्रव्यं लघु सं..... (स्मृतम्) ।
 ग्राम्यासू(नू)पोदकं मांसं दधि पिष्टं तिलाह्वयम् ॥
 एवं प्रकारं यच्चान्यत्तद्द्रव्यं गुर्विति स्मृतम् ।
 तत्र यो मात्रया भुङ्क्ते द्रव्यं गुर्वपि मानवः ।
 आहारं तस्य पश्यन्ति लघुमेव सि(चि)कित्सकम्(ः) ॥
 ... (शात्या) दीन्यपि योत्यर्थं अश्नाति सुलघून्यपि ।
 आहारस्तत्पथारूपो व्यक्तं संपद्यते गुरुः ।
 द्रव्यस्य लघुनो युक्त्या सौहित्यं योऽधिगच्छति ॥
 एकान्तपथं तं विद्याराहारं कुशलो लघुम् ।
 य... (दि) युक्त्यापि सौहित्यं द्रव्यस्यालघुनो व्रजत् (भवेत्) ।
 तथाविधमिहाहारं गुरुमेव ब्रवीम्यहम् ।
 तस्मात् त्रिभागसौहित्यमदे... हित्यमेव वा ॥
 आहारं लघुमन्विच्छेद्गुरुणा सेवितं सदा ।
 लघुना(नी)... (रस) समासाद्य द्रव्यं यो ह्यतिसेवते ॥
 तल्लघवप्यतिसंयुक्तं कोष्ठे संपद्यते गुरु ।
 गुरुलाघवविद्वैद्यो नराणां वर्धयत्यसून् ॥
 तस्मादेवं विजानीयात् द्रव्याणां गुरुलाघवम् ।
 एवमेव च भोज्येन पथ्येनाप्यायते नरः ।
 हीयते चाप्यपथ्येन प्रदुष्टैर्मरुतादिभिः ।
 स्वस्थस्यान्ये न वर्धन्ते धातवश्शोणितादयः ।
 व्याधितस्यापि दोषाय भोज्यं परिणमत्यथ ।
 यथाह्यकालवृद्ध्याच भूमौ बीजं विपद्यते ।

१ वा लघुः । २ °हारः कश्चिद् द्र० । ३ द्विविधं गौरवं । ४ उच्चमा० ।

५ प्रकारं य० । ६ मर्धसौहि ।

वर्धते कालवृद्ध्या च देहिनीपि तथा रसैः ।
 यश्च नित्यमुदारः स्यात्सुखनिश्चलमानव(सः) ।
 लघु पास्त(पान)रतः सात्मेग्रपि यथागपि दूरगम् (?) ॥
 स्नातोऽनुलिप्तः स्वर्गो स्याद्वीतदन्त(स्व)लङ्घितः ।
 द... (दानं) सत्यमहं सा च प्रायो ... ह्यन्नं समाश्रितम् ॥
 वमयेत् श्लेष्म... गाश्च(रोगंश्च) पैत्तिकांश्च विरेचयेत् ।
 निरुद्धाद्वातरोगांश्च रक्तजांश्चावसेचयेत् ।
 रक्तशालि(लीन्) समुज्जान्वा षष्टिकानथवा पुनः ।
 सुखि(न्नान्) मात्रयाऽश्रीयात् घृतसैन्धवसंयुतान् ॥
 ईषत्पिप्पलिकं यूषं ईषच्च मधुनान्वितम् ।
 ईषत्सलवणं चापि पयश्चार्धकृतं पिबेत् ॥
 विष्क्तिकान्प्रतुदांश्चाजां(जान्) ... (वि)गलांश्च मृगद्विजान् ।
 यथान्यत्कटुकं पाके भोज्यं तन्नित्यमाचरेत् ॥
 पादाभ्यां न चरेत्कृष्टे विषमे कण्टकेषु च ।
 गहनं परदारांश्च नदीः पूर्णांश्च न व्रजेत् ॥
 कलहं... (न हिकुर्या) च रात्रिचर्यां विवर्जयेत् ।
 गजस्य न स्यादासनं तोयार्द्रस्य च वाजिनः ।
 जनवादांश्च श्रौण्डांश्च द्विषतश्चापि मानवान् ।
 स्नेच्छान्नकृतिबुद्धींश्च न सेवेत कदाचन ।
 सर्पानःस्य(?) ... वक्षुद्रपादांश्च न स्पृशेत् ।
 महिषान् गवयान् खड्गान् व्याघ्रान् सिंहान्श्च वर्जयेत् ॥
 नारोहेत् पादपान् वेश्म नादानि(वसे) हर्षदुर्बलम् ।
 न गवां प्रतिलोमं च न मध्ये (नतथा) व्रजेत् ।
 सकृत्प्रसृ(वृ)(ष्टिं)ष्टि नारोहेत् हिमतन्त्रं च पर्वतम् ॥
 घृतमुष्णाब्जं च भजेत् एतदारोग्यमुत्तमम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले पंचमोऽध्यायः ॥

न वेगान् धारणीयं वेगान् धारणीयं दन्तधावनम् । (स्थ० ५)

अथ न वेगान् धारणीयं व्याख्यास्यामः इति हस्माह भगवानात्रेयः ।

न वेगान् धारयेद्बीरः प्राप्तान्मूत्रपुरीषयोः ।
 न वातस्य न पित्तस्य न शुक्लस्य कफस्य च ।
 उद्गारकृदिजृम्भाणां तथाच क्षवथोरपि ॥
 न वाष्पस्य न निद्रादि(देः) प्राप्तं वेगं निधारयेत् ॥
 रोगसंजनका ह्येते हिंसुरायुर्विधारिताः ।
 एतानेव प्रकुर्युश्च तथा प्राप्तान् समीरितान् ।
 वातमूत्रपुरीषाणां धारणादनिलादयः ।
 कुप्यन्ति रेतसश्चापि शर्करा साश्मरी तथा ।
 त्वग्दोषो वा १ज्वरो वा स्यात् गात्रे शोफादि वा पुनः ।
 कृदिपित्तकफानां तु धारणेन समीरणात्(णम्) ।
 जृम्भादि धारणादाभ्यं तिमिरं (वा) व्यधारणात् ।
 क्षवथूद्गारकासानां धारणात् स्याच्छिरोरुजा ।
 तस्मान्मूत्रपुरीषं वै विस्तृज्ज्वाल्यमुद्धितम् ।
 उक्ताह्य ४धारणीयांसु ता(ध)रणीयान्निबोधत ॥
 लोभमोहभियां लक्ष्णाचिन्तयेन्मा(योर्म)दमानयोः ।
 शौर्यस्य च तथा विद्वान् प्राप्तं वेगं विधारयेत् ।
 एतद्धारयतो ह्यस्य बलमायुश्च वर्धते ।
 उदन्बुपि(न्मुखः)शुची देशे प्राङ्मुखस्त्ववकुण्ठितः ।
 आवश्यकमुपासीत कृतेचाङ्घ्रिरुपस्थेत् ।
 कृतशौचस्थलो जन्तुर्भक्षयेत् दन्तधावनम् ।
 धवं पलाशं न्यग्रोधं नक्तमालमथापि वा ।
 शिरीषं करवीरं च जातिवृक्षमथार्जुनम् ।
 एतेषां दन्तधवनं श्रेष्ठमाह पुनर्वसुः ।

आपाद्य विदलीकृत्य दन्तमांसमबाधयन् ।
तदस्य शोधयेद्वक्त्रं पित्तस्य च कफस्य च ।
वातरक्तादि शमनं कुरुते दन्तधावम् ।
मुस्तकल्कं सत्रिफलं मधुतैलं मुखोदकम् ।

| | | |
|---|---|--|
| योजने कल्कांश्च- ङ्गणम् । धूमपानौ षधानि । धूमपानं धूमवर्ति प्रमाणं धूम- नेत्रम् ॥ | } | प्रत्येकं कवळग्राहं धारये- दनुपूर्वकम् । वातपित्तकफा- दंष्ट्रात् शाम्यन्ति कवळग्रहात् । मधूकं चोपदेलेहघ्नं स्वररक्त- प्रसादनम् । |
|---|---|--|

तैलं दन्त्यं सुरभिहतं तदभिष्यन्दनाशनम् ।
क्षतं सन्दोहयेद्वक्त्रं वीर्यमाणं(त्रं) नियच्छति ।
इन्द्रियाणां मिताभ्यङ्गो गुरुदोषविमोक्षणम् ।
त्वग्दोषशमनो बल्यो वाप्र(त)रक्तप्रसादनः ।
ग्राम्यधर्मा ... (हि) गत्याचेद्र(चर)थाश्वगजपातनात् ।
दण्डमुष्टिहि(ह)तानां च रुजाश्चमविनाशनम् ।
त्वचः प्रसादनो भृङ्गः शाम्यत्युच्छादनात् क्षमः ।
प्रहर्षं कुरुते स्थैर्यं मलघ्नं चावसेचनम् ।
विलेपनं हृदयति कण्डूं हन्ति प्रसादनम् ।
प्रशिरं व्यञ्जनं दृष्टेस्तिमिरं च प्रणश्यति ।
तनूरुहेन्द्रियबलं नस्यतैलादुपागतात् ।
स्वररक्तप्रसादश्च नश्यन्ति पलितानि च ।
स्वक्तं सूच्छादितश्चैव प्रष्टुश्च यथाबलम् ।
यथर्तुवारिणा स्नातस्वनुलिप्तस्ततःपरम् ।
प्रसादितोत्तमाङ्गश्च ततो नस्यं प्रदापयेत् ।
ततस्संशुद्धदोषस्य धूममस्योपकल्पयेत् ।
कुटन्तैलाङ्गीबिर श्यामकागरुचन्दनम् ।
कालानुसार्यं नळदै(दं)पृथ्विकां मधु गुग्गुलुम् ॥

ताळिसं पद्मकं सुस्तं प्रियङ्गुं सहरेणुकां ।
 हरिद्रां च सुगन्धां च सरळां देवदारु च ।
 श्रीवेष्टकं सर्जरसं चोरकं चेति संहरेत् ।
 वक्त्रं च सर्पिषाक्तं स्याद्भूममेतं ततः पिबेत् ।
 अष्टाङ्गुल प्रमाणं वाप्यथवा द्वादशाङ्गुलम् ।
 षडङ्गुल प्रमाणं वा धूमवर्तिं प्रशस्यते ।
 सौवर्णं राजतं ताम्रं गजदन्तस्य वा पुनः ।
 वृक्षसारमयं चापि धूमनेत्रं प्रशस्यते ।
 चतुर्धा पञ्चकल्पो वा धूमं स्त्रोतस्यवाचरेत् ।
 वातानुलोमनं कुर्यात् श्लेष्माणं चापकर्षते ।
 बलं ददाति दृष्टेश्च सम्यग्धूमो निषेवितः ।
 अष्टौ धूमस्य कालाःस्युः वनान्ते(स्वप्नान्ते)यः प्रशंसति(स्यते) ।
 अथ त(अथोदित)स्यैव शयनाहन्तप्रक्षाळने कृते ।
 जलक्रीडानिवृत्तस्य तथा भुक्तवतोऽशनम् ।
 क्षुतोच्चारव्यपायान्ते भुक्तवान्तविदस्तथा ।
 गुणांश्चैकैकशस्तेषां धूमपानकृतान् शृणु ।
 तत्र शय्यो(लित)स्यैव वक्ष्याम्यथ यथाक्रमम् ।
 हन्युत्सन्नं कफं जन्तोः षडिन्द्रियविवोधनः ।
 प्रतिबुद्धस्य चेद्धूमो मारुतस्यानुलोमनः ।
 दन्तप्रक्षाळनादूर्ध्वं रोगान् सम्यग्व्यपोहति ।
 च्युतश्लेष्मापनयनः स...धि (सुगन्धि) विशदास्यकृत् ।
 दन्तमांसक्षयकृतव्याधयो वदनेषु ये ।
 दोषाः कास प्रभृतयः ताँश्च धूमो व्यपोहति ॥
 शिरोगता याच रुजा सलिलक्रीडनोद्भवा ।
 कर्णशूलं प्रतिश्रयायं चाशु धूमो व्यपोहति ।
 वातपित्तकफान् धूमः शमयेद्भोजनो ग(न्)तान् ।
 शिरोविशुद्धिं कुरुते भुक्तं च स्थापयत्यपि ।
 धमनिप्रतिपन्नसु वायुः क्षवथनेरितः ।

व्याप्नोति सर्वस्त्रोतांसि स धूमो (मे) नानुलोम्यते ।
 वर्चःकर्माद्भृतो वायुः गलमूर्धशिरोगतः ।
 प्राणानाश्नापयति वा सधूमो (मे) नानुलोम्यते ।
 शुक्लस्त्रोतोगतो वायुरुर्ध्वमेव प्रपद्यते ।
 स घोरां विस्मज्जिद्रोगान् तान् धूमेनानुलोमयेत् ।
 रोगाधिपतयेच्छ्रद्धाः स्थानिभ्योऽभिसमोरिताः ।
 अनारोग्याय कलप्यन्ते तेषां धूमः प्रशस्यते ।
 हृतेषु दोषेष्वनिलं (लः) शून्यस्थानानि सञ्चरन् ।
 समूर्ध्वशि (ति) ल (शि) रो गत्वा दि (तं) धूमेनानुलोमयेत् ।
 पूर्वं पोतोदकं (को) भुक्त्वा लभते द्वाशतां नरः ।
 मध्ये भक्तस्य पिबतो भोजनं नापकृष्यते ।
 भुक्तवानथ पानीयं प्रश्नादनुपिवेत्तु यः ।
 तदोष्णा (तदाप्या) नुगतं भुक्तं समत्वायोपपद्यते ॥
 अग्नौ प्रतापयेत्पाणी स्यातां यावत्तु निर्जली ।
 ततः परं शतं गच्छेद्भुक्तं ह्येवं प्रयात्यधः ।
 न रात्रौ दधि भुञ्जीत नाष्टतं नाप्यमाचिकं ।
 कुष्ठौ पतेति वारिच कण्ठरोगाश्च बुद्धिमान् (?) ।
 तीयचीणे (णो) न न (च) स्पृश्यान्न च पर्युषिताशनः ।
 न चाजीर्णाशनो जन्तुर्जिघांसुर्व्याधिसंभवम् ।
 सोमा (पा) नक्तस्तथा दण्डी ह्यत्रेण व्यजनेन च ।
 आवाधात् वर्जयेत्सर्वान् विचरेदापरिग्रहात् ।
 तपस्विनः पितृन् देवान् ब्राह्मणांश्च समाहितः ।
 अर्चयन्विधिवन्नित्यं जीवेद्वर्षशतं नरः ।

वातो हि शूलं विहतः करोति

मूत्ररूपं जनयेच्च मूत्रम् ।

कासं प्रतिश्यायमथो क्षयं च

श्वासं च कुर्याद्विहतं तु वेगे ॥

पुरीषनू(मा)नाहय(म)तीव कुर्यात्
 रेतोवरोधः कुरुतेऽथ षण्डः (म्) ।
 तस्माद्दि वेगं न विधारयेत्
 नरो ययि(दी)च्छेदिह दीर्घमायुः ॥
 इत्याह भगवानात्रेयः—
 इति भेले षष्ठोऽध्यायः ।

इन्द्रियोपक्रमणीयं स्त्रीसंभोगं । (स्त्र. १०)

अथात इन्द्रियोपक्रमणीयं व्याख्यास्यामः

इति हस्माह भगवानात्रेयः ॥

इन्द्रियाणि हि सर्वाणि परिज(जी)र्यन्ति (जीर्य)तः ।
 तस्मात्सर्वत्र वयसि यथाकालं स्त्रियं व्रजेत् ॥
 नत्वनाप्यायितबलं समागच्छेत्तु योषितः ।
 नायोनिषु प्रयुञ्जीत तिर्यग्योनींश्च वर्जयेत् ।
 न प्राप्तं धारयेद्देगं दत्त्वा शीतोदकं स्पृशेत् ।
 न तु श्रान्ते न तु भुक्ते न क्लिष्टोऽप्याविलो न च ।
 कृशो नात्याशितो वापि दिगोवा(दीनोवा) मैथुनं व्रजेत् ।
 मितवाक्स्ततं यः स्यात्स्निग्धान्नाशि(शीच)वाचरेत् (भवेत्) ।
 सुबद्ध निरेतश्च (सुबद्धनतिरेताश्च) यथर्तुशयनाशनः ।
 जीर्णमासन्नसत्त्वां च व्याधितां मलिनां कृशाम् ।
 व्यङ्गिनीं परजन्मां च पृतिकाष्ठं (कोष्ठां) च वर्जयेत् ।
 बलमारोग्यमायुश्च वपुस्तेजश्च देहिनाम् ।
 हीयते हीदृशीं गत्वा प्राप्याकालजलामिव ।

ऋतावृत्तौ यथाकालं मैथुनं न समाचरेत् ।
 वर्षासु नवरात्रासु दशरात्राञ्च शरदपि ।
 पञ्चाहान् हे) मसमये सप्ताहाञ्च शिशिरे तथा ।
 पक्षान् वसन्ते ग्रीष्मे तु मासि(सं) मासि(सं) समाचरेत् ।
 निदाघे पश्चिमे मासे मैथुनं चैव वर्जयेत् ।
 अथवा यौवनोत्साहात् बलित्वेन समन्वितः ।
 शिशिराम्बुक्तस्नानो हृद्यस्त्वगनुलेपनः ।
 नातिव्यायामनिरतः क्षीरमांसकृताशनः ।
 हृद्यमाल्याम्बरधरा हृद्याभरणभूषिताः ।
 हृद्ययौवनसम्पन्नाः प्रियाप्रियकथानुगाः ।
 हृष्टाः सर्वत्र काले च शक्त्यर्थे न व्रजेत् स्त्रियः ।
 चतुर्दशीं पञ्चदशीं अष्टमीं च विवर्जयेत् ।
 पिवेत् क्षीरं घृतं नित्यमायुष्मकरणां हितम् ।
 बलवर्णकरं ह्येतदारोग्यकरणं तथा ।
 संहारयेद्भोगमखं त्रिर्मासस्य च मानवः ।
 ओषधींश्च मणींश्चैव मङ्गल्यान् धरयेत्सदा ।
 मन्त्रमावर्तयेच्चापि ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ।
 ममे माद्यापगाद्देहाद्वायुः प्राणाश्च ये सदा ।
 इन्द्रो मे बलमादद्यात् शिवं चापो दिशन्तु नः ।
 इत्येवं मन्त्रमार्पयं भुक्त्वा गत्वाऽथवा स्त्रियः ।
 संजीव(जप)न्वै सृष्टुं वारि तस्यास्यायुर्न हीयते ॥

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले सप्तमोऽध्यायः ।

मात्राशित्तीयं कौडर्यादि धूमद्रव्याणि ॥ (स. ४.)

अथातो मात्राशित्तीयं व्याख्यास्यामः इति हस्माह भगवानात्रेयः ॥

मात्राशी स्यात् द्विपक्षाशी दण्डपाणिमिताध्वजः ।

यथार्तुभोजनं कृत्वा जन्तुधूममिमं प्रिवेत् ।

कौडर्या शतगुध्या च तालिसागरुगुगुलु ।

प्रियङ्गवश्च श्यामं च सर्पिषास्नेहितं प्रिवेत् ।

भोजनेनेरितो वायुः कोष्ठात् शिरसि तिष्ठति ।

प्रसिध्यति स धूमेन कफश्चावैति चक्षुषः ।

तण्डुलान् पृथुकांश्चापि सर्वाग्निष्टमयांस्तिलान् ।

न खादेद्भुक्तवान् जन्तुः मात्रां खादेद्(हु)भुक्षितः ।

अध्वना न अस्माद्गच्छेत्सर्वान् स्वेदान्निधारयेत् ।

हित्वाऽपि सर्वकार्याणि तथास्थायुर्न हीयते ।

वर्जयेद्विषमं दुःखं आसनं पादलम्बनम् ।

रत्नेच्छुरीरं वातेभ्यो नित्यमेव दुरासनात् ।

अत्यासनमतिस्थानमतिचक्रमणानि च ।

अतिस्त्रप्रम(श)य्या च तथा चाप्यतिभाषणम् ।

यच्च किञ्चिद्विचेष्टाभिरत्यर्थं कुरुते नरः ।

सर्वमेतदनायुष्यं भिषजः परिचक्षते ।

समस्थानासनगतिः समशय्यासनस्तथा ।

समजल्पविचेष्टश्च चिरं जीवति मानवः ।

निवातमुपसेवेत सुखवातं कदाचन ।

निवातमायुषः पथ्यं आरोग्यं (न)च सर्वदा ।

आतपे नाचरेत्कर्म शिरस्त्राणमृते तथा ।

निदाघवर्जं च सदा नावश्चायं(ये) समाचरेत् ।

शरदसन्तप्रावृट्सु कारयेच्चानुशा(वा)सनम् ।

योगाश्च वस्ति दाप्या स्युः यस्य नित्यं सदापयेत्(?) ।

स्वप्नान्त(स)न्ययोश्चापि न खादेन्न च संविशेत् ।

न रात्रौ विचरेदेको नागारं शून्यमाविशेत् ।

चतुष्पथं परिपक्वे (हरेत्) पर्वते न चिरं वसेत् ।

रात्रौ च वृक्षमूलानि परदारांस्तथैव च ।

राजानिष्टं प्रजाभङ्गं दावाळिं (ग्निं) कलहं दणम् ।

मनोवृत्तांश्च संरक्ष्ये (संलक्ष्य) दूरादेव विवर्जयेत् ।

वैरिणी नोपसेवेत बाहुभ्यां न नदीं तरेत् ।

हस्त्यश्वगाश्च सर्पं च दूरतः परिवर्जयेत् ।

मधुमेहश्च शोषश्च दृष्ट्वा वातादुप(ताद्युपद्रुतम्) ।

मद्यपानात्तु न भवेत् तस्मात्तं विधिवद्भवेत् (पिबेत्) ।

अक्राथितजलं मासान् चतुरो मात्रया पिबेत् ॥

(चैत्रवैशाखमुख्यान् वै) शेषानष्ट यथा सुखम् ।

अभुक्त्वाऽऽमलकं खादेद्भुक्त्वा चापि हरीतकीम् ।

परिणामे च भक्तस्य खादेच्चैव विभीतकीम् ।

✓ कषायभावात् श्लेष्माणं अश्लभावाच्च मारुतम् ।

पित्तं मधुरभावाच्च सम्यगामलकं जयेत् ।

✓ उष्णभावात् ... (भयं) दति(हन्ति)पित्तं चाशयमूर्च्छितम् ।

सम्यक् ज्ञा(न)यत्यधः खादेद्भयां भुक्तवान्नरः ।

✓ आहारपरिणामस्तु पित्तश्लेष्मविवर्धकः ।

तस्मात्सौम्यं तयोरिच्छन् आदधीत विभीतकम् ।

काल्यं (उत्थाय गत्वा) च सा(स्ना)यादृतुसुखैर्जलैः ।

सु(स्थःशु)चिसमाचारः सदाचारपदे स्थितः ।

मूत्रमसु न कुर्वीत पुरीषं च कदाचन ।

न निष्ठिदे(निष्ठीवेत्) तथा प्राज्ञो रक्षन् जीवितमात्मनः ।

न हरे(नाहरे)द्विषमं यि स्थित्वा (नश स्यात् वि)षमं

क्षुयात् (क्षुधा) ।

ऋज्वापि नो (ऋज्वासीनो) नरः स्वाद्यं आदधीत विचक्षणः ।

मातरं पितरं भार्यामाचार्यं चानुपालयेत् ।

अभिवादनयोगाच्च वर्धयेदायुरात्मनः ।
 राजापभ्य(थ्य)चरा (ये वै येच) तद्गृहि न(द्रोहणेर)ताः ॥
 विधर्मिणश्चानृताश्च न तैरेकीभवेत्कचित् ।
 एतदप्याहुरारोग्यं धन्यं पूज्यं यशस्करम् ।
 सिद्धिराचरितं पूर्वं वृत्तमात्रेयसम्मितम् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेलेऽष्टमोऽध्यायः ॥

चतुष्पादभिषग्विचतीयं ॥

अथातः चतुष्पादभिषग्विचतीयं व्याख्यास्यामः (चतुष्पाद)

इति हस्माह भगवानात्रेयः ॥

भेषजं हि चतुष्पादं आतुरं कुरुते (ऽ)गदम् ।
 युनक्ति यशसा(वैद्य)मर्थ्य(र्थ)मवि(प्र्यस्य य)च्छति ।
 तस्मादौषधयोग्यस्य वैद्यस्यादातु(स्य स्वातु)रस्य च ।
 उपस्थायश्च(उपायस्यच) वक्ष्यामि संपदं सिद्धिकारिणीम् ।
 प्रतिवातं यथा क्षिप्तं पांसुमुष्टिर्विनश्यति ।
 तथाहि नाशसागच्छेत् धृतिः कर्माभि(गामिनी) ।
 (नद्यां)प्रस्यन्दमानायां श्वभ्रस्थानि स्थलेषु च ॥
 प्रणश्यति यथा वृष्टं तथा दुर्योजिता क्रिया ।
 यद्वा(हा) सत्तु(शक्ति) यथा(ससा)युक्तो धर्मात्मा खड्गपाणिष्टत् ।
 परेभ्यः क्षोभयाद्(भाद)त्ते पात्या(त्मीयांश्च)हन्य रोन् ।
 एतं (वं) चिकित्सिकं(ः)पादैः भिषजैश्चोपबृंहितः ।
 रक्षत्यकीर्तेरात्मानं व्याधिं चापि नियच्छति ।

सिध्यति प्रतिकुर्वाण इत्यात्रेयस्य शासनम् ।
 अपिचाप्रतिकुर्वाण(इत्याख्यज्ञ) द्रशौनकः ।
 गुणव(वृ)त्तातुरद्रव्यभिषक्परिचरान्वित(ः) ।
 दृश्यन्ते विफला यस्मान्न(न्ना)फला तु(स्तु) विपर्यये ।
 तस्मान्नैकातिकी सिद्धिः चतुष्पादे चिकित्सितम्(ते) ॥
 न त्वेतां बुद्धिमात्रेयः शौनकस्यानुमन्यते ।
 प्रतिकुर्वति सिद्धिर्हि वर्णात्साहबलान्विता ।
 न च स्याद्याधि बहुशो(ता) न त्वेष(वा) प्रतिकुर्वति ।
 दुर्वर्णां दुर्वलश्च स्याद्ग्राधिभिश्चाप्युपद्रुतः ।
 विकलो वा भवत्यज्ञैरुपक्रान्त इवातुरः ।
 न सा सिद्धिरसिद्धिस्स्यात् यां दृष्ट्वा नाभिपद्यते ।
 तस्मात् ज्ञानवतां सिद्धिं विन्देत मतिमान् भिषक् ।
 तत्र प्रथमतः पादभौषधं तु निबोध मे ।
 खं वायुरनलस्तोयं भूमिश्चैवेह पचमी ।
 गुणान्तराणि सर्वाणि यथासङ्ख्यं विभावयेत् ।
 तेषां तु ये भूतगणाः पृथग्भावनिदर्शकाः ।
 परस्परसमायोगाद्द्रव्येष्वेव भवन्ति ते ।
 लक्षणं (ख)स्य सौष्रियं का(री)च्यं चाप्यनिलात्मकम् ।
 औष्ण्यमग्नेरपां शैत्यं कारकं (खरत्वं) पार्थिवो गुणः ॥
 यस्मिन् यस्मिन् भवेत्क्षिप्तं एतद्द्रव्ये विशेषतः ।
 यस्य भूतस्य यद्द्रव्यं तत्तदात्मकमिष्यते ।
 सौष्रियं लाघवं चैव भौषज्यं चापि...(खा)त्मकम् ।
 खरत्वं चातिवेगश्च का(री)च्यं चाप्यनिलात्मकम् ।
 स्नेहः क्लेदश्च शैत्यं च मृदुत्वं चापि वारिजम् ।
 पैच्छित्यं गौरवं मूर्तिस्थैर्यं गन्धश्च पार्थिवम् ।
 एतैर्भूतगणैर्गुणैस्तं यद्द्रव्यं तत्तदात्मकम् ।
 पञ्चभूतात्मकैः सर्वैर्गुणैस्तत्र समन्वितम् ।
 प्रतिवासं(तं) रसो गन्धस्तदा प्रद्रवणानि च ।

शीतमुष्णोदकं चैव रै (वै)द्यचेदि(रोगि)प्रियं तथा ।
 सज्जोपकरणत्वं च मूलत्वक् फलसञ्चयः(ये) ।
 मूलादीनां सुगन्धित्वं कल्याणस्पर्शवान् रसः ।
 अनुनादा(अनूनता)तिरिक्तत्वरूपत्वं च न (प्र)शस्यते ।
 स्थलात्मरा(ता)कनिम्बेषु सैकतेषूपलेषु च ।
 सुषितं नातिविष्टं च तिर्यग्धातं च गर्हितम् ।
 येनौषधार्थं सिद्धिः स्यात्तेन चाप्रतिबध्नता ।
 भेषजं प्रथमः पाद इति ज्ञेयं चिकित्सिते ।
 प्रतिश्रावी द्वितीयस्यात् तस्य प्रत्येकशो गुणाः ॥
 बलवान् दक्षिणो दक्षः प्रियवागजुगुप्सकः ।
 वीरश्चाप्रतिकूलश्च रक्तश्चित्तकथस्तथा ।
 प्रज्ञावांश्चाप्युपस्थायी तथा शास्त्रानुसारतः ।
 न चातिप्रतिबध्नीयात् सर्वेष्वौषधकर्मसु ।
 प्रशस्यते क्लेशसहः प्रतिश्रावी यथागुणः ।
 तृतीयश्चातुरः पादः सत्त्वा(त्या)शंसि(सी) प्रशस्यते ।
 लज्ज(दक्षि)णश्चात्मवांश्चैव कृतज्ञस्सुसनाश्च यः ।
 औषधस्य प्रतिग्राही नौ(न)च रोगान्निगूहयेत् ।
 दृढभक्तोऽनसूयश्च यश्चापि न विषीदति ।
 सर्वत्राप्रतिकूलश्च न क्रियामति वर्तते ।
 एभिर्गुणैस्समायुक्तं जानीयात्साद्यमात्मक(सत्यमातुरम्) ।
 भिषक् चतुर्थपादस्तु स सूत्रार्थविशारदः ।
 अरोगा(गो) दृ(दु)ष्टकर्मा च कृतकृत्येषु कीविदः ।
 प्रयोक्ता च प्रगल्भश्च क्षमावान् प्रतिभानवान् ।
 बुद्धिमांस्तर्ककुशलो वीर्यौदार्यबलान्वितः ।
 अस्तुश्चश्चाप्रमत्तश्च सततं सच्च(संय)तेन्द्रियः ।
 ओजस्वी चौषधज्ञश्च देशकालप्रयोगवित् ।
 भिषक् चतुर्थः पादः स्यादेवं गुणसमन्वितः ।
 / भेषजं च प्रतिश्रावी भिषगातुर एव च ।

अन्योन्यगुणसंयोगादिते स्थः सिद्धिकारकाः ।
 एत एतु वैगुण्यात्तस्य व्याधिविवर्धनाः ।
 तस्माच्चतुषु पादेषु चिकित्सा ऋ(सिद्धिरि)ष्यते ।
 व(प)क्तये कारणं व(प)क्तुः यथा पात्रं धनानि(त्रेन्धनानलाः) ।
 विजेतुर्विजयो(ये) भूमि(मे)श्चमूः(म्वः) प्रहरणानि च ।
 आतुराद्यास्तथा पादाः शिञ्जाकारणसंज्ञिताः ।
 मृद्गण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा ।
 नावहन्ति गुणान् वेद्यादृते पादत्रयं तथा ।
 विद्यात्तस्माच्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले नवमोऽध्यायः ॥

आमप्रदोषीयं । (स्व-वृ०)

अथातः आमप्रदोषीयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः—

अथाह तैलात् पिष्टान्ना(त्) क्लमता(रा)त्पायसादपि ।
 विरुद्धाद्वप्रशनादामात् शालूकाच्छुष्कशकतः ।
 क्लीशोकक्रोधकामेर्थालोभादेगाह्यादपि ।
 अन्यस्मादीदृशादपि रात्रौ जागरणेन वा ।
 जन्तोश्शाम्यति कायाग्निरथवा जु(दु)ष्टशय्या ।
 उद्वेष्टं तस्य गात्राणि कटिपृष्ठं च दूयते ।
 जङ्घे शूलायतश्चास्य ज्वरश्चास्योपजायते ।
 शिरो गुरु भवत्यस्य तथा नेत्र(त्रे)शरीरिणः (विशीर्यतः) ।

सो ज्वर(रः) सविदाही च कफः पित्ते प्रशंसति ।
 स्तिमिरं(तं) चास्य हृदयभाष्मातमिव चोदरम् ।
 दृतिः पूर्णइवानङ्गः क्षुध्यते दोषसञ्चयत् ।
 संकुर्दयति चाभिच्छां मूर्च्छां चापि निश्चकृति ।
 अपि तृण(णासमा)गाढमास्य हे(हा)स्योपशुष्यति ।
 स्वरबोध(भेदोऽ)स्य भवति कण्ठशुष्क इवोद्भूतः ।
 मन्ये(हनू)च परिदह्येति श्रद्धा चास्य न जायते ।
 यथाऽस्य वायुः पित्तं च श्लेष्मा चापि समुद्भूतः ।
तच्चैव सावशेषः प्रवर्तते (?) ।
 स उभाभ्यां तथाभीच्छां स्त्रोतोभ्यामतिरेचितः ।
 कफः पित्ते क्षयं प्राप्ते वाते(न) सह मूर्च्छते ।
 शुद्धकोष्ठे हृते दोषे शून्यकाय (श्च) स्मरुतः ।
 एकस्था(नंपरित्यज्य)विधावति ततस्ततः ।
 तत्क्षणं हृदयं नाभावस्ति स्थिवर्मा(र्म)णि चाविशन् ।
 संज्ञ...भैवं कुरुते(कुरुतेऽसंज्ञकं भीरुं) मुहुर्मुहुर्चेतनम्(?) ।
 इत्येतद्भूयमायम्य(साऽभ्यस्य) यथावम(दु)पलक्षयेत् ।
 अ(तः) ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि जीर्णस्यान्नस्य लक्षणम् ।
 मधुरः पूर्वमुद्गारो मध्ये चान्नो यथा भवेत् ।
 पश्चात्स(लवण) कश्चापि नहि दाहो भवत्यथ ।
 लाघवं य(वी)क्ष्यते काये विशुद्धं विशदं सुखम् ।
 प्रगुणं कुरुतेऽपादमूर्ध्वं वा यदि वाप्यथ ।
 भोक्तुं श्रद्धा भवत्यस्य रुजा(क्ष्मा चा) चान्यो(स्यो) (पश)स्यति ।
 इत्येभिलक्षणेजीर्णं विद्यादन्नं शरीरिणाम् ।
 अजीर्णं लङ्घयेदामे पाचनीयं ततो भवेत् ।
 यवाग्व्यादिभिराहारैः संसृजेद्वातमुत्तरम् ।
 शुण्ठी ति ति(वि)षा सुस्ता कायः स्यारा(दा)मपाच(नः) ।
(?)स्तुल्यकायो रुचिप्रदः ।
 सुस्तं हिङ्गु त्रिकटुकं पारावत्सा हरीतकी ।

चूर्णं प्र(ति)तिविषा चेति चित्रकश्चाभनाशनः ।
 पिप्पलीनागरक्षारैः सुखोदकसमायुतैः ।
 श्वे(स्वे)दनं...(फल)वर्तेश्च शूलेषु स्ति(ति)मिरेषु च ।
 आगार धूमपिप्पल्यो मदनं राजसर्षपाः ।
 गोमूत्रविष्ठा स्मगुडाः फलवर्तिः प्रशस्यते ॥

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेल दशमोऽध्यायः ॥

समाशनपरिधनौयं । (प्रतिः)

अथातः समाशनपरिधनौयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः—

आहारं प्रघसं नृणां उपयुक्तं चतुर्विधम् ।
 पच्यमानं हिधा काये कोष्ठे त्वा(चा)मं चरव्य(तदन्य)था ।
 श्वे स्वे (स्वेद) मूत्रशक्लद्रूपैर्निष्क्रामति(विपाकतः) ।
 अन्नस्य...त(बल)तस्तेजो रसो निर्वर्त्यते नृणाम् ।
 रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्नेदस्ततोस्थि च ।
 अस्थौ मज्जा ततः शुक्लं शुक्लाद्गर्भस्य संभवः ।
 एवं पूर्वात्परं याति धातुर्धातुं(यथाक्रमम्) ।
 (त)त्रा पथं यथा भुक्तं रससेव्यथवा पुनः ।
 कुर्यान्न(द्रो)रोगान्(न) दीप्ताग्नी रसव्यापत्तिसंभवान् ।
 शोणिताद्यात्कृता गच्छेत्परिणालवशां(शात्) तदा ।
 यस्मिन्व्यापद्यते धातौ तस्मिन् व्याधीन् करोत्यथ ।
 ए(वि)षूचिकां सालसकां पित्तदाहं विलम्बिकाम् ।
 अन्येद्युष्कं सततकं तृतीयकचतुर्थकम् ।
 पित्तं लोहितपित्तं च रक्ताग्निं प्रलेपकम् ।
 विपाटिकांश्च तान् व्याधीन् रसव्यापत्तिजान्विदुः ।

कर्कू(खडू) चर्मदळ' वा(पा)मां चर्मकीलां विचर्चिकाम् ।
 विड्जान् सत्वा(नजा)नि कुष्ठानि रक्तव्यापत्तिजान्विदुः ।
 मांसकीलार्बुदं गण्डमळिकां जातुलानि च ।
 विष्ठावळिकतां चैव मांसव्यापत्तिजान्विदुः ।
 दौर्गन्ध्यं खेदनं स्थौल्यं पिपासां बहुनिद्रताम् ।
 प्रमेह(हान्) विंशतिं चापि मेदोव्यापत्तिजान्विदुः ।
 दन्तरो(गान्) नखश्मश्रुकेशरोगा(मा) भिवा(पा)तनम् ।
 अतिवृद्धिं तथावास्तां(वान्तं) अस्थिव्यापत्तिजान्विदुः ।
 विदाहं च मदंचैव सोन्मादं च प्रवान(त)कम् ।
 तमोदर्शनमूर्च्छाया(मूर्च्छां) च मज्जाव्यापत्तिजान्विदुः ।
 रेत चौराग्निमस्त्रिष्ठानिलहारिद्रकं पृथक् ।
स्मवर्णं च शुक्लव्यापत्ति जान्विदुः(?) ।
 नरस्य स्त्रीस्वरत्वं वा स्त्रियावा पुरुषस्वरा(रम्) ।
 आमं गर्भच्युतिं वापि गर्भव्यापत्तिजान्विदुः ।
 इत्येते आमजा नृणां विरुद्धार्य(द्य)शनात्मकाः ।
 विरुद्धा.....(शूनहीनः)स्यादेतदारोग्यमुत्तमम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले एकादशोऽध्यायः ॥

आत्रेयखण्डिकापीयं ।

अथातः आत्रेयखण्डिकापीयं व्याख्यास्यामः इति हस्माह भगवानात्रेयः—

आत्रे (यः खण्डिका)प्यस्य मैत्रेयोऽन्ये च तद्विधाः ।

रससङ्ख्याकथां चक्रुर्वने चैत्ररथे द्विजाः ।

तत्र कश्चिद्रसैकत्वं रससामान्यतोऽब्रवीत् ।

सात्म्यासात्म्यात्तथा द्वित्वं त्रैविध्यं स्थानतोऽपरि ।
 स्वादुलो स्वा(?)मृदुत्वाच्च चतुष्टयम् ।
 महाभूत विभागेन पञ्चेत्याहुस्तथा परे ।
 तदेतदेवं जानीयाद्यथोक्तादेव कारणात् ।
 षट्त्वं समत्वमथ जा वा ब्रूयुत(स्तद्रुचिभेदतः) ॥
 मधुरो लवणास्त्रौ च कषाय कटुतिक्तकाः ।
 क्षारश्च तान् रसान् सप्त नारिकेलं (तिरेकं) समाचरेत् ।
 रसातिसेवनाज्जन्तुः सद्यो मृत्युमवाप्नुयात् ।
 भवेयुर्व्याधयश्चास्य रसव्या (पत्तिसंभवाः) ।
 वृत्तरोहित राजीभिर्वृत्ताक्षश्लिषा कटा तथा (वृत्ताक्षश्लिषाकृतिः) ।
 मस्यश्चिमिचिमौनाम कूले चरति वारिणः ।
 तं मत्स्यं वर्जयेदेकं दुग्धेनान्यासु भक्षयेत् ।
 पयसा भक्ष्यमाणस्तु नर(रक्तप्र) दूषितः ।
 रक्तव्यापत्तिजान् व्याधीन् मृत्युं चापि नियच्छति ।
 श्वानं वराहं चैकात्र पयसा परिवर्जयेत् ।
 वन्यमूलफलाहारं तद्विधेन विरुध्यते ।
 अग्नीयात् पयसा(यस्तु स)द्यो मृत्युमवाप्नुयात् ।
 भवेयुर्व्याधयश्चास्य शङ्खरागगळग्रहाः ।
 मधुना गोरसेनापि लिङ्गुचं (न) च भक्षयेत् ।
 बाधिर्यं वाप्यथान्यं वा मृत्युं वा भक्षयन् व्रजेत् ।
 कपोतान् सर्पैर्भ्रष्टान् पयसा न तु भक्षयेत् ।
 मज्जाव्यापत्तिजान् व्याधीन् प्राप्नुयाद्धि तथा परम् ।
 पयसा सर्पदंष्ट्रान् ताद्यै (खाद्यै)सिध्यति तादृशः ।
 क्रिमिजा व्याधयश्चास्य दृश्यन्ते यदि जीवति ।
 इह या स्त्रीः पुमांश्चैव हितजीर्णमिताशनौ ।
 अनुरा(दा)वर्तिना(नौ) चैव स्यातां गर्भस्तयोः खलु ।
 बलवान् वर्णवांश्चैव चक्षुष्मांश्च भवत्यथ ।
 विपर्यये वर्तमानो विपरीतमिहर्चितः(च्छति) ।

अजीर्णत्वशनं यस्य जीर्णं चानशनं भवेत् ।
 स तथोभयथा रोगान् दारुणाग्राप्नुयान्नरः ।
 तस्माज्जीर्णं च पथ्याश्च मात्रावन्तो ऽविरोधिनः ।
 सर्व...वरनाभोज्या ...त्यासंहतुधातुभिः(?) ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले द्वादशोऽध्यायः

जनपदविभक्तीयं ।

अथातो जनपदविभक्तीयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः—

त(क)स्मिन् जनपदे रोगाः के भवन्त्यधिका इति ।
 गुर्दालुभेः(लि)ना पृष्ठे व्याचचक्षे पुनर्वसुः ।
 मत्स्यान्नभोजिनो नित्यं प्राच्याः स्युः कफभित्तिनः ।
 श्लोपदं गळगण्डं च प्रायशस्तेषु दृश्यते ।
 नदीतीयगतान् मत्स्यान् भक्षयन्ति समुद्रजान् ।
 प्रायशः कुष्ठिकास्तेन मनुष्या दक्षिणादिशि ।
 मसूरयवगोधूमतिलकोहलसेविनः ।
 भूयिष्ठमर्शसस्तेन काश्मोजा(?) दन्तजा(जोदग्दभवाः)सृताः ।
 मांसको मा(मांसकामाः)सुराकामाः स्त्रीकामास्त्राहसप्रियाः ।
 प्रतीच्यास्तेन भूयिष्ठं दृश्यन्ते राजयक्षिणः ।
 तीक्ष्णोष्णानि हि वाह्निकाः प्रायेणान्नानि भुञ्जते ।
 अभिष्यन्दीनि मांसानि पानकान्यौदकानि च ।
 प्रकृत्याचाप्यभिषसा (स्)पार्वतास्सका(तोपत्यका)स्रदा ।
 तेन बाह्लीकदेशेषु प्रायो ह्यधिर्वलासकः ।
 (मेघो)वर्षति वर्षासु हेमन्ते यत्र व(वर्ष)ति ।

ऋतुव्यापत्ति(जा नन') तत्र स्युर्ध्वधयो नृणाम् ॥

ऋतुव्यापत्तिसमये जनमारः प्रवर्ति ।
 तत्रोवपासी धृतिमान् रतो विप्राभिवादन ।
 मन्त्रौषधपथश्चापि जनमारात्ममुच्यते ।
 सूर्योपतापात् सहसा वर्षान्ते पित्तभीर्यते ।
 शरदि प्रायशस्तेन ज्वरो भवति देहिनाम् ।
 गवां च चारणाख्या च चतुष्पात् श्वापदेषु च ।
 इन्द्रजालश्च मत्स्येषु शकुनानां प्रसीळकः ।
 चित्रकस्सर्पधान्येषु दवो मूलफलैषु च ।
 हस्तिनां फालनाशैव ज्वर इत्यभिधीयते ।
 उत्कर्णकस्तप्राश्वेषु तेजस्सर्वाभयेषु च ।
 सर्वत्र वसति ह्येष एष चार्त्तक(व) उच्यते ।
 तं धूमकिन्तु (केतुं) प्रत्यक्षं क्षिप्रं प्रशमयेज्ज्वरम् ।
 असात्म्यं गन्धमादाय वातो यत्रातिरिच्यते ।
 तत्र मर्त्येषु सामान्यः प्रतिशा(श्या)यः प्रवर्तते ।
 तथा(व)का(ता)लिकानां तु(नाम) पिटका चास्य जायते ।
 कक्षाध जरुमूले च पाणिवारतलेषु च ।
 कण्ठे वा श्रोत्रमाश्रित्य व(वस्ती)वा हृदयेऽपि वा ।
 त्वरमाणः चिकित्सेत प्रवृद्धा मारयेन्नरम् ।
 पित्तश्लेष्मसमुत्थाना वातशोणितमूर्च्छिता ।
 बतालिकेति तामाहुः यत्रवांस्तत्र जीवति ।
 इत्येवं सम्यगुद्दिष्टं सर्वं यद्यच्च चोदितम् ।
 ऋषिभ्यः परिपृच्छद्भ्यः प्रश्नजातं यथाक्रमम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले त्रयोदशोऽध्यायः ॥

चिकित्साप्राभृतीयं ।

अथातः चिकित्साप्राभृतीयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः—

चिकित्साप्राभृतो विद्वान् दद्यात्संशोधने विधिम् ।
 न च द्रागौषधं दद्यात् स्नेहस्वेदानुपस्कृते ।
 यो हि संशोधनं हि(क्ल)त्वा स(न)कषायाणि सेवते ।
 तस्य तानि तदा जीवं हरन्त्य(न्तीव) हुताशनम् ।
 दारु शुष्कमिवास्त्रिन्नं नाम्यमानं यथा भवेत् ।
 तथा विरेचनं हन्यात् स्नेहस्वेदानुपस्कृते ।
 स्नेहस्वेदोपपन्नं तु कृदितं भावितं पुनः ।
 विरेचनस्य सिध्यर्थं पूर्वमास्यापयेद्विषक् ।
 अजोर्यदथ रूक्षं हि विरेचनमथोक्लिखेत् ।
 औषधीर्हि न वर्याच्च (हीनवीर्याश्च) वर्जयेत्(हीनमात्रकाः) ।
 हीनमात्रं हि भैषज्यं जीवं हरति देहिनाम् ।
 तस्मात्कालं बलं मात्रामृदु (तुं) विद्याद्विरेचयन् ।
 यथा वृक्षस्य पुष्पेषु पलाशेषु फलेषु च ।
 कर्णेष्वस्यानिलो हन्ति तथा व्याधिरनिर्हृतः ।
 यथा मूले तरोच्छिन्ने क्लायत्यग्रं न संशयः ।
 एवं विरेचिते व्याधिरुपशाम्यति देहिनाम् ।
 उदकाञ्चोदमण्डं च मत्स्यान् मांसतिलानपि ।
 गुरु चान्नं न भुञ्जीत स्नेहसंतर्पणानि च ॥
 विरेचनं तु यः पीत्वा दारुणे रूक्षिते गुदे ।
 दारुणं भक्तमश्नाति नमचि(स)(चामि) परसेन तत् ।
 तद्यथा ह्यदकं निम्न स्थलादध्यवरोहति ।
 स्नेहे तस्य तथा दोषो श्लक्ष्णतां याति सर्वशः ।
 स्नेहनैर्व्याधितस्थानाद्रसैश्चाभ्यधिकं कृताः ।
 स्वेदैर्मृदूकृतास्सन्तः स्रोतसा च समागताः ।
 मृदुसर्वाङ्गकोष्ठस्य भेषजैश्शुचिभिस्तथा ।

दोषाः सुनिर्हरा जन्तोर्भवन्तीति विनिश्चयः ।
 एष हेतुर्विवे(रे)केषु कर्दनेष्वेष एव तु ।
 एष हेतुर्निमोहेषु शिरसश्च चिरेचने ।
 बहु स्निग्धो विविक्तश्च यो रसैर्नोपपद्यते ।
 भेषजैरप्युपष्टब्धः सोऽतिमात्रं विशिष्यते ।
 वक्ष्यामि तु क्रियामस्यां अजा(ज्ञा)तव्याधिनाशिनीम् ।
 मधु सेवेत वर्षासु सर्पिः शरदि चाचमे(रे)त् ॥
 सन्मिश्रं गण्डकेनैव वारुणीं शिशिरे पिबेत् ।
 मार्दीकं तु वसन्ते वै निदाघे क्षीरमाचमेत् ।
 कल्माषा(दा)वतळारूक्षास्तत्रचा(त्वग्वाचाऽ)वन्ति
 नोहिता (रौहिताः) ।

शिरसोन्तस्तर्पयन्तः श्लेष्मणश्च विशेषणाः ।
 उदावर्ता जयन्त्यते स्निग्धत्वाद्गौरवादपि ।
 रौक्ष्यात् त्रिधा सा जननात् श्लेष्मं मावा कळास्तथा(?) ।
 एवं तु वर्तमानानां आयुर्वृद्धिमवाप्नुयात् ।
 नृणां समाभे(भ) वर्णानां अदीनमनसां तथा ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले चतुर्दशोऽध्यायः ॥

तिस्रेषणीयमध्यायं ।

अथाततिस्रेषणीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः—

प्राणैषि(ष)णा स्या(त्) प्रथमा द्वितीया तु व(ध)नैषि(ष)णा ।
 धर्मैषि(ष)णा तृतीया तु पुरुषस्य भवत्यथ ।
 तत्र प्राणैषि(ष)णा पूर्वं समारभ्येत मानवः (वैः) ।

धर्मार्थं कामप्राप्तिर्हि सद्भिः प्राणैः प्रपद्यते ।
 धर्मादिना(का)मप्राप्तिश्च पुरुषार्थः परः स्मृतः ।
 तस्माच्छरीरं तदितोः (त्वरितः) परिरक्षेद्भिः शास्त्रतः ।
 व(ध)नैषणां द्वितीयां तु समापद्येत मानः ।
 वाटय्योनास्त्रितः (नाजय्यं नास्तिनः) किञ्चिद्यथा जीवस्मृते धनात् ।
 धर्मकामौ च (न) संपीड्य (संपादयौ) तस्माद्वित्तमुपार्जयेत् ।
 ज्वररोगादि कायेन निरस्येदापदो बुधः ।
 धर्मेणैषणां तृतीयां तु समापद्येत मानवः ।
 आवश्यं नाधिगन्तव्या देहभेदे वरा गतिः ।
 प्राणाद्वा(णदा)नोपरोधेन तस्माद्धर्मं चरेदुत ।
 त्रिवर्गानुपरोधेन तत्प्राप्तिर्हि नरेहिता ।
 इत्येतास्सम्भता लोके व्याख्यातास्तिस्त्र ईषणाः ।
 यथोक्तास्ताः प्रयुञ्जानः परत्वेह च मोदते ।
 दीपस्तम्भास्तु चत्वारो यथाहार(र)श्चतुर्विध(र)ः ।
 शरीरे च बलं चैव (मलं) तेभ्यः प्रजायते ।
 शरीरमात्मनो मर्म मलमाम्य(त्न)बलं पुनः ।
 रोगास्तद्वाधिपतयो वातपित्तकफात्मकाः ।
 मलं तु रोगो भवति वैषम्यं धातुभिर्गतैः ।
 मलाच्चाप्येति वैषम्यं तस्मात्तमभिनिर्हरेत् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले पञ्चदशोऽध्यायः ॥

वातकलाकलीयं ।

अथातो वातकलाकलीयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः—

शताभ्यधिको दोषो न्यूनश्चैवेति पठ्यते ।

कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रुर्महर्षयः ॥

फलं तत्राधिकं कश्चित्प्राहान्नमुपहन्ति यः ।

यावत्तिष्ठति वातो हि दे(ही) तावत्तु जीवति ॥

सहि गर्भाशये शुक्लं विस्त्रंसयति योषितः ।

वातः स्त्रिया रजो हन्ति वम्या भवति तेन सा ।

न स्त्रियः पुरुषा वापि वम्यास्सन्ति हरेचन (सन्तीह केचन) ।

आशये शीतलो वापि वातःशु(वातशु)क्लेन्द्रियस्तथा ।

वातस्सन्नि(वातसन्ने)न्द्रियो वापि वातहीनेन्द्रियस्तथा ।

आलोकितं निमिषितं यच्चकिञ्चिद्विचेष्टितम् ।

अशितेष्वामयाःस्त्रीणां नाम तत्संभवन्ति हि ।

वाताङ्घ्रि कुब्जाः कुण्ठिनः खञ्जा गृध्रसिनस्तथा ।

हीनाङ्गा ह्यधिकाङ्गाश्च भवन्त्यन्ये च तद्विधाः ।

स्थितिः प्राणभृतां चैव स(त्व)रिताचैव निस्त्र(श्च)ला ।

पृथिव्याश्चलनं चैव वातादेव प्रवर्तते ।

वातेन धूमो भवति धूमादभ्रं प्रजायते ।

अभ्राद्विमुच्यते वारि बीजानां संभवस्ततः ।

उत्कानिवातः स्तनितं विध्या तारागणस्य च ॥

विद्युतां च बलं चैव वातादेव प्रवर्तते ।

अग्निर्ज्वलति वातेन पूर्णानां हविषां पतिः ।

स्रवन्ति चापगास्तेन पृथिवीं प्रापयन्ति च ।

वायुस्तत्राधिको देवः प्रभवस्सर्वदेहिनाम् ।

योन्यां रेतः प्र(र्)सक्तं च वायुना युज्यते गुणैः ।

विषपित्तं कफं चैव हन्यादन्यतरं तयोः ।

आदाय (हार) कुपितो वायुः देह(हे) विप्रतिपद्यते ।

एवं न्यास(व्यान)मुदानं च समानं च प्रचक्षते ।

देही(?) बहु विशेषित्वा(त्) अपानं प्राणमेव च ।

सुधर्मं यद्यु(त्यु)दानं च व्यानस्तिर्यक्(वि) वृद्धिज्ञात् ।

प्राणो न्यस्यत्यपानं तु प्रवर्तयति देहिनम् ।

समानो धारणश्चैव सङ्गृह्णाति स देहिनाम् ।

इन्द्रियाणि मनश्चैव भूतात्मानं च सम्मतः ।
 विशिषस्त्वपरो वायुरपानयति (नइति) संज्ञितः ।
 शोषणश्चरणश्चैव तथा विचरणः स्मृतः ।
 वायुः पञ्चसु शूलेषु (भूतेषु) भूतं परममुच्यते ।
 तानि वायुनिबद्धानि वायुस्सर्वत्र सर्वदा ।
 मूत्रेन्द्रियपुरीषाणां वायोरुत्सर्ग एवच ।
 पाचनाच्चै(नंचै)व भुक्तस्य कर्माऽपानस्य शिष्यते ।
 प्राणः प्रीणाति भूतानि प्राणो जीव इति स्मृतः ।
 व्यानश्शरीर चेष्टा च निमेषा(निमेषोन्मो)न्मेषणानि च ।
 यच्चान्यदूर्ध्वगं जन्तोस्तदुदानस्य चेष्टितम् ।
 क्षपदुं (क्षवयुं)हिंक्षितं (हिंक्षितं) कासं उच्छ्वासं भूषणं
 (मूर्षणं) तथा ।
 गुदमाध्मापयत्येष देहं यः सच सर्वशः ।
 एष प्रतिष्ठितो वायुरपान इति संज्ञितः ।
 इत्येभिरीदृशैश्चान्यैः हेतुभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
 भूपे(ते)भ्योऽभ्यधिकं वातं लक्षयाम(ः) शरीरिणि ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले षोडशोऽध्यायः ॥

दशप्राणायतनीयं ।

अथातो दशप्राणायतनीयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः—

चतुर्विधमथो भुक्तं दशधा प्राणमृच्छति ।
 जम्बस्वेदशक्लन्मूत्रैः तथा वातादिभिस्त्रिभिः ॥
 स्त्रियाः स्तन्येन शुक्लेन शोणितेन चवाप्यथ ।
 इत्येभिर्दशभिः प्राणः तिरोभवति देहिनाम् ।
 ईहते अमृत(ः) वृत्तिर्वातपित्तकफैस्त्रिभिः ॥

मि-

आहारसाम्ययोगाद्धि वैषम्यं व्याधयः स्मृताः ।
 इह द्वौ भिषजौ विद्यात् ज्ञश्चैवाज्ञश्च देहिनाम् ।
 तत्र ज्ञः सूत्रवान् यः स्यात्सुत्रार्थेन(च) विचक्षणः ।
 पञ्चाश्रयान् (याः) कणायांश्च (कषायाश्च) भोजनं च क्षुदाश्रयम् ।
 नतु (जतु) श्रेष्ठां(ष्ठा)स्तयास्नेहानामयांश्च (ह्य) आमयाश्च
 तुराश्रयान् (याः) ।
 चूर्णप्रभेदान्(भेदाः) द्विविधान्(धाः) यतो गो(योगा अष्ट)ष्टविधाः-
 स्मृताः ।

द्वादशान्नानि पथ्यानि प्रायश्चित्तद्वयं तथा ।
 त्रिंशतं चोपनाहानां स्थानेष्वष्टासु तत्त्वतः ।
 सूत्रस्थानं चिकित्सा च त्रिंशत्त्रिंशदिहोच्यते ।
 अष्टौ निदानान्युक्तानि विमानानि तथैव च ।
 (श)रिराप्यप्यथवाप्य(?) वर्ज्यं यत्र प्रदर्शितः ।
 सिद्धयो द्वादश प्रोक्तास्तथा कल्पेन्द्रियाणि च ।
 एतद्दशशतं प्रोक्तं मूलिन्यो यत्र षोडश ।
 एकोनविंशतिः ज्ञेयाः फलिन्यः क्षीरिणां त्रयम् ।
 आयुर्ज्ञानमरिष्टेभ्यः साध्यासाध्यचिकित्सिताः ।
 ततो(रोग) ज्ञानं निदानेभ्यो देशकालौ विमानतः ।
 शरीरं धातुसङ्घातं प्रकृतिं धातुसाम्यताम् ।
 अन्यदेवंविधं यच्च शास्त्रे किञ्चिदपि श्रुतम् ।
 भिषग् यो वै विजानाति स ज्ञोऽज्ञं तु निबोधत ।
 योऽन्नकाले यवागू तु सूपकाले तथा रसम् ।
 यूषकालेऽथ मांसं तु शोष्येषु स्तम्भनानि च ।
 विरेचनीये वमनं निरुहेच्छा(चा)नुवाम(स)नम् ।
 विपर्ययाप्य व्याकुलते सोऽज्ञ उच्यते (इत्युच्यते बुधैः) ।
 योगेन विद्यामादद्यात्तस्मात्तत्त्वदिदृक्षया ।
 यथा तमसि दीपः स्यात्तथा शास्त्रं प्रकाशकम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः—

इति भेले सप्तदशोऽध्यायः ॥

अन्नपानरक्षीयं ।

अथातोऽन्नपानरक्षीयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः—

गन्धारभूमौ राजर्षिमग्नजित्स्वर्गमार्गगः ।
 सङ्गृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम् ।
 न च स्त्रीभ्यो नच(ः)स्त्रिभ्यो न भृत्येभ्योऽस्ति मे भयम् ।
 अन्यत्र विषयोगेभ्यः नेत्रं (सोऽत्र)मे शरणं भवान् ।
 एवमुक्तस्तथा तस्मै महर्षिः पार्थिवर्षये ।
 विषयोगेषु विज्ञानं प्रोवाच वदतां वरः ।
 विषेण सह संसृष्टमन्नपानं चतुर्विधम् ।
 यानि दुष्टानि रूपाणि तानि मे गदतः शृणु ।
 प्रतिकाल(प्रतिकूल)मिवाभाति फेनिलं विप्लुताकृति ।
 शुक्लं भवति यत्त्रिप्रं नेदं लिह्यन्ति मल्लिकाः ॥
 धूमश्चास्य गतश्वासो रक्तः कृष्णोऽथ पादशः ।
 प्रादुर्भवति तद्विद्यादुष्टमन्नं प्रचक्षणः ।
 नीलपीतासि त(धा)राभ्यो भवतीन्द्रायुधोपमाः ।
 मध्ये मध्येषु(च)ये चान्ये (दृश्यन्ते) पान(वात)निश्चयाः(निश्चलाः) ।
 अनुलेपनदोषे तु त्वगस्य बहुलं भवेत् ।
 सर्वव्यापत्तिमाप्नोति क्लियते मासमेव च ।
 माल्यं तु श्यावपुष्पं स्यात् स्नानं कालं च दृश्यते ।
 चूर्णयोगावकीर्णं तु वेणुना तं (सं)वृतं भवेत् ।
 रोमाणि परिशीर्यन्ति केशभूमिश्च धूयते ।
 कूर्चस्पर्शश्च दुःखः स्यात् जटिलाश्चास्य मूर्धजाः ।
 वेदनां चैव कण्डू च कुरुते दुष्टमञ्जसम् ।
 अक्षि स्रवति चाल्प्यर्थमन्यकारं च पश्यति ।
 धूमदोषात् विरेकः स्यादत्यर्थं शिरसश्च रुक् ।
 परिदाहश्च भेदश्च गन्धज्ञानमसाधु च ।
 न सम्यग्मेत्ति च रसानरणीव च मथ्यते ।

इति धूमस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत् ।
 दुष्टे वाससि लिङ्गानि सूचीभिरिव बध्यते ।
 दह्यते मुञ्चते सि(सी)वां मूर्च्छतिर्यवलीयते(?) (मूर्च्छते कबलीयते) ।
 दुष्टेत्वाभरणे दाहः खेदः कण्डूश्च जायते ।
 कुरुते गात्रवैवर्ण्यं स्वयं चाभाति निष्प्रभः ।
 दुष्टमासनमास्थाय(स्तीर्य) विमूढो विपतेत् नरः ।
 सीदन्युच्चानि वृषणानि चोत्थातुं नहि भवेत् ।
 जरू चास्य प्रवेसे(पे)ते सदोषा शिव(सदोषासनसेव)या ।
 दुष्टेतु शयने रूपं सुप्तेः कण्डूयते भृशम् ।
 खेदस्य विषमत्येति रोमकूपैः समन्ततः ।
 तुद्यमानः पुनश्शय्यां तुद्यते जन्तुभिर्वृताम् ।
 सुदिनं दुर्दिनं चापि दुर्दिनं सुदिनं तथा ।
 स्याद्भूष दुष्टपर्यन्ता दुष्टकृत्तनिषेवणात् ।
 कुरुते रूपवैवर्ण्यं प्रदुष्टश्मश्रुवर्धकः ।
 शिशिरे मुञ्चति खेदं ग्रीष्मे शीतातुरो भवेत् ।
 प्रवेपते प्रव्यथते गद्गदाच सरस्वती ।
 स्यन्दनी च विवर्णौ हि परुषादासनच्छदात् ।
 उपानही यथा दुष्टौ तथा कण्डूः प्रजायते ।
 प्रस्विद्यते पादतलं तथा चिमिचिमायते ।
 अधीहि विषपीतस्य विषदग्धस्य वा पुनः ।
 दिग्ध(विष)दिग्धस्य वा राजन् रूपाणीमानि लक्षयेत् ॥
 गात्रोद्वेष्टनमाप्नोति वेपते व्यथते नरः ।
 कम्प(ते)पीचकण्ठोस्य(ष्ठं)निस्वनं ष्ठीवते मुहुः ॥
 जिह्वाचास्य जङ्घिभूताशोदै(शूलै)रिवचतुथ्य(द्य)ते ।
 व्याहर्तुं च न शक्नोति कर्म चैव न विन्दति ॥
 केशान्तं शीर्यते चास्य नखाः(ः)स्या(श्या)मी भवन्ति च ।
 अङ्गुष्ठाङ्गुल्यः कृष्णाः हस्तपादतलैस्सह ॥
 शरीरं पाण्डुतामेति विषार्तस्यैव देहिनः ।
 सोऽकृत्य(त्य) करतामेति भग्नो रथ इवाहवे ॥

तस्मात्कुर्यात् क्रियां वैद्यः षोडशागदकीविदः ।
 क्रिया युक्तः कुलीनश्च धर्मज्ञो दीर्घदर्शनम्(ः) ॥
 अर्थाश्चास्यति(नि) तिष्ठेयुः विधिवत्संभृता गृहे ।
 चिकित्सैषु(षा)या(भया) प्रोक्ता विषप्रशमनी(ने) हिता ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।
 इति भेले अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथातो विधिशीणितीयं व्याख्यास्यामः

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।

विधिना शोणितं जातं सि(से)व मानस्य वारुणीम् ।
 प्रदुष्यति विदाहेन ततो रोगाय कल्पते ॥
 सर्वं भयमचक्षुष्यं अपौरुष्यं तथैव च ।
 उपहन्ति बलं नृणां अनायुष्यं च पात्यते ॥
 यस्तु तद्भजते युक्त्या न तं व्याधिः(ः) प्रसज्यते ।
 अति वी(पी)तञ्चतद्विधिं(हृदि)तत्रा(तन्यात्)
 हृद्या वता(ला)यदा(था) ॥

न शक्तं तु पिबेद्युक्त्या पानं तस्माद्विचक्षणः ।
 बलवर्णकरं ह्येतदारोग्यकरणं परम् ॥
 स्नेहपाने तथा मात्रा वस्तिकर्मणि चाप्यथ ।
 चारे(स) लवणैश्चैव न सुरा प्रतिषिध्यते ॥
 ब्रंह्मणं नेष्टुं किञ्चिद्विद्वान्नसहिता सुरा ।
 तां तु रूक्षीं विशेषेण नातिमात्रं समाचरेत् ॥
 वातेन श्लेष्मणा चैव संप्रदुष्टा(म्) सुशीतला(म्) ।
 विशोष्य दीपयत्येषा ग्रहाणां (हृणी)वै शरीरिणाम् ॥
 यस्य कोष्ठगतो वायुः(ः) दुःखमुत्पादय(से)द्भृशम् ।
 उदावर्तं स हृद्भोगं वातगुल्ममथापि च ॥
 अथवा सर्वगात्रेषु मा(स)वातः(ः) प्रत्यवस्थितः ।

युक्तां प्रसन्नां पिबतः स क्षिप्रमुपशाम्यति ॥
हन्त्यासवः(ः)कथं(फं)पित्तं पुरु(री)षं च भिनत्त्यथ ।
मधु पित्तमरिष्टस्तु वाताहि(दिं)शमयत्यथ ॥
वस्तिः शुध्यति पानेन शर्कराचापि भिद्यते ।
तेजो बलं च हर्षं(ः) च युक्त्या पानेन वर्धते ॥
क.....रोपयते खेदां (दान्) ब्रह्म(ब्रंह)णीनावपद्यते(?) ।
तस्मात्पानगुणान्बुध्वा यथायोगं समाचरेत् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भैले एकोनविंशोऽध्यायः ॥

अथात ऊर्ध्वं दशमूलीयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

ऊर्ध्वं(ऊर्ध्वं) इत्याह हृदयं तस्मिन् धमनयो दश ।
ऊर्ध्वं चतस्रो हे तिर्यक् चतस्त्रिंशप्यधः क्रमात् ॥
ताभ्यो मूलसिरास्तिर्यग्विद्यन्ते नैकधा शिराः ।
तस्मात्तदर्थं(दूर्ध्वं) विज्ञानं स्मृतियोगं च मानसम् ॥
हृदो रसो निस्वरति तस्मादेवं च सर्वशः ।
शिरोभिहृदयं वेत्ति तस्मात् तत्प्रभवाश्शिराः ।
हृदि प्राणश्च चक्रस्थः विमाने कर्णिका यथा ॥
मर्माभिमा(घा)तं तेनात्र सहते हृदयेन तु ।
पुण्डरीकस्य संस्थानं कुम्भिकायाः फलस्य च ॥
एतयोरिव वर्णं च विभर्ति हृदयं नृणाम् ।
यथाहि संवृतं पद्मं रात्रौ, चाहनि पुष्यति ॥
हृत्तदा संवृतं स्वप्ने विवृतं जाग्रतः स्मृतम् ।
अपो महारसा विद्यादन्नं चैव महौषधम् ॥

महाप्रलेपनं तत्र तेजश्चैव महत् परम् ।
 रसानामुदकं योनिरन्नं वृत्तिः परा स्मृता ॥
 व्य(व्यु)च्छिन्नमुपसन्धत्ते पुनः कायं शरीरिणाम् ।
 सूर्यांशं धूममित्याहुः यतोऽत्र(भ्र) प्रभवः स्मृतः ॥
 अभ्राद्वर्षं ततोऽन्नानि तस्मात्तेजो महत्परम् ।
 खेदश्चास्त्रं च मूलं च फेनं चाभ्यन्तरं मलम् ॥
 अवश्यायहे(हि)मास्बूनि बाह्यानि परिचक्षते ।
 इहयो(१).....

.....विरेच्यांश्चैव मानवान् ॥

आस्थाप्याननुवांस्यांश्च वातव्याधींश्च सर्वशः ।
 विरुक्षयेदतिस्निग्धं क्रिमिकोष्ठनमेव च ॥
 रुक्षस्तम्भ्यान् प्रमेहांश्च कफरोगांश्च सर्वशः ।
 वामयेत् श्लेष्मकासौ च प्रतिश्राये च मानवान् ॥
 हृद्रोगे चैव कुष्ठे च सर्वश्लेष्मामयेषु च ।
 विरेचयेद्भि कुष्ठानि ज्वरान्विस्फोटकानि च ॥
 दाहं विचर्चिकां च वातव्याधींश्च सर्वशः ।
 अन्वासयेत् कटीपृष्ठपार्श्वरोगान्विचक्षणः ॥
 जघ्नेष्टनं च गुल्फं(गुल्फं) च वातव्याधींश्च सर्वशः ।
 आस्थापयेद्दिगुल्फांश्च मूत्राघातोदराणि च ॥
 अपस्मारांश्च कुष्ठं च वातव्याधींश्च सर्वशः ।
 खेदयेत् हनुस्तम्भमायाममपिचा(क)र्थि(र्दि)तम् ॥
 पार्श्वरोगं च गुल्(मं) च वातव्याधींश्च सर्वशः ।
 स्तम्भयेद्भक्तपित्तं च विसर्पं च विचक्षणः ॥
 दाहं विस्फोटिकांश्चैव पित्तव्याधींश्च सर्वशः ।
 इति पित्तकफो(त्या)न्वै विद्यादामाशयात्मकान् ॥

पर्वी(पक्का)शयसमुक्त(त्यां)श्च वातरोगान्विनिर्दिशेत् ।
वामयेध्व(द्व)मनीयांस्तु समीच्यामाशयान्नरः ॥
विरचयेद्विरच्यांस्तु तथापश्वा(का)शयांश्चयः(ान्) ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेली एकविंशोऽध्यायः ॥

अथातः खेदाध्यायं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

संकरं प्रस्तरं सी(से)क(कं) नारि(डो)द्रोणिजलानि च ।
उदकोष्ठं कुटिं चैव खेदमष्टविधं विदुः ॥
पाषाणभस्मसिकता तुषपांसुबुसानि च ।
अजाविगोपुरीषाणि.....प्रगतिकाम्(?) ॥
पयसान्त्रानि दास्यानि गिरिसाधारणानि च ।
सर्वाणि मद्यमांसानि लवणानि तथैव च ॥
विधिवद्योजयेत्स्वेदाकन्याश्वागरूरूषिताः ।
भिषग्बलाबलं दृष्ट्वा बलिनो दुर्बला(न पि) ॥
.....शकारैस्तु प्रवेष्ट्यजिनकादिभिः(?) ।
किटिजैराविजैर्वस्त्रैः प्रच्छाद्य खेदयेन्नरम् ॥
स्पर्शश्चाध्य(सौख्य)मवैवर्ण्यं खेदोऽङ्गेषु च मार्दवम् ।
शि(शी)ताभिनिर्गमश्चैव सम्यक् स्विन्नस्य लक्षणम् ॥
पित्तप्रकोपो दौ(र्बल्यं).....(सू)र्क्षा विलाय(ताप)नम्(?) ।
खेदद्वेषोऽङ्गरागश्चेत्यतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥
उद्द्वेष्टनं दारुणता गुरुत्वं स्तब्धगात्रता ।
मरुतश्चाप्रसिद्धिश्च न तत्स्विन्नस्य लक्षणम् ॥
अस्विन्ने खेहनं कृत्वा ततः खेदैरु

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तोहि स्वेदो जयति मारुतम् ॥
 शुष्कान्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः ।
 नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान् ॥
 अतिस्निग्धे विशेषेण कारयेच्चिति(च्छी)(त)ळां क्रियाम् ।
 अथवा शीतलैर्वाथ क्षीरैश्चिं(ः सिं)चेद्भु(दृष्ट)तेन वा ॥
 पिपासुं वा न शक्तं च गर्भिणीं कुक्षिरोगिणीम् ।
 सर्वांश्च पित्तजान् व्याधीन् क(ः)स्वेद्दे(दैः) समुपाचरेत् ॥
 ये स्वेरा(दाः) पूर्वमुद्दिष्टाः तानिप्येकैकशः शृणु ॥
 बिल्वाग्निमन्थस्थोनाकं काश्मरीं पाटलां तथा ॥
 यवान् कुलुत्थान् कोलानि स्थाल्यं(ः) मासिच्य साधयेत् ।
 य(ए)व(वं)पाकानि(न) वि(भि)ज्ञाय सुखोष्णाख्यवतारयेत् ॥
 ततोऽभ्यक्तस्य विधिवत् स्वेदनीयस्य देहिनः ।
 गात्रं गात्रैकदेशं वा सुखोष्णाच्छादयेच्छनैः ॥
 ततः प्रच्छादयद्भूयः का(कौ)शियाजिनका(कं)वलैः ।
 सङ्करस्त्वेष विज्ञेयः स्वेदानामग्नौ उच्यते ॥
 एतान्यन्यानि च भिषक् स्वेदद्रव्याणि संहरेत् ।
 प्रकीर्य तानि शयने कम्बलेनावकुण्ठितम् ॥
 स्वभ्यक्तं शाययेत्तं तु स्वेदं प्रस्तरमाविशेत् ।
 वसातैल घृतक्षीरमूत्रमस्त्वस्त्वकाञ्चिकैः ॥
 सुखोष्णैः स्वेदयेत् स्वेद्यं स्वेदः (सेकः)स परिकीर्तितैः(तः) ।
 नाडीं गजकराकारां त्रिहस्तां तादृशीं तथा ॥
 धान्यस्तद्रवपूर्णायां धान्यां सन्धाय लेपयेत् ।
 तां त्रिहस्तां समाहृत्य स्वभ्यक्ताङ्गस्य देहिनः ॥
 प्रच्छन्नगात्रस्य तु तां नाडीमुद्धाटयेद्विषक् ।
 नाडीस्वेदः समख्यातो यावत्प्रस्वेदनादिति ॥
 कण्ठावगाहामच्छिद्रां तावदेवऽऽयतां समाम् ।
 द्रोणिं वा(पा)यसनिष्काथकसरद(र)क्षीरपूरिताम् ।
 कृत्वा तस्यां सुखोष्णायां स्वभ्यक्तं वातरोगिणम् ॥

ज्ञात्वावगाहयेत्तावद्यावत् स्वेदोद्गमो भवेत् ।
 तप्तैः पात्र(ताप)युतैर्वापि शुद्धैर्वा सलिलैर्भिषक् ॥
 स्वभ्यक्तगान्नस्य तव(त): सलिलैः स्वेदमाचरेत् ।
 ईदृशैरेव सलिलैः कटाहं चार्धपूरिते ॥
 प्रवेश्य स्वेदयेत् स्वेद्यं उदकोष्ठः प्रकीर्तितः ।
 सुलिप्तां संवृतद्वारां येन्ति किं(?) कारयेत् त(कु)टिम् ॥
 ऋस्वागारमितां हृद्यां शिलास्तीर्णतलां दृढाम् ।
 तस्यां चुल्लै च कर्तव्ये अधस्तात्पार्श्वसंवृते ॥
 तत्र स्थाल्यौ प्रतिष्ठाप्य सर्वतः परिबृंहयेत् ।
 स्थाल्यौ तप्ते कुटिश्चापि तथा तेनोष्मणा तथा ॥
 सर्वाङ्गिरीगो पुरुषः प्रवि(शि)त्स कुटीं ततः ।
 स्वभ्यक्तगान्नः सुखिन्नः क्षौमप्रावृतलोचनः ॥
 ततः प्रवेशयेत् तत्र शीताम्बुमणिकां शुभाम् ।
 क्लान्तशीताम्बुना तत्र स्पर्शसौख्यमवाप्नुयात् ॥
 कुटिस्वेद इति ज्ञेयं(ः) सद्यो रोगनिवर्तकः ।
 स्वेदो(देन)(ही)नः क्षं (क्षुट्) दृष्ट्वाभयक्रोधैस्तथा स(न)रः ॥
 निवातमध्यसन्तापो गुरुप्रा(व) रणं(णः) तथा ।
 स्वेद्यासु वातकफजा वातजाः कफजास्तथा ॥
 रोगास्तत्रोष्णलवण स्निग्धाम्लोष्कै(णै)व(श्च) वातजाः ।
 करीषवुसपाषाणबाष्पाङ्गारैः(कफा)त्मकाः ॥
 स्वेद्यासु स्निग्धमाक्षा(क्षो)भ्यां(भ्यं) ज्ञात्वा व्याधिवलाबलम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेलै द्वाविंशोऽध्यायः ॥

अथातो गाढपुरीषीयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

गाढं पुरीषं अथितं शुष्कं वातसमीरितम् ।

तेनास्यातिहितं स्त्रोतः स्व(श्च)यरुं(थुं) कुरुते गुदे ॥

तस्यैव रुषितो वायुरूर्ध्वं जन्तोः प्रपद्यते ।

पार्श्वे श्रीण्यां च पृष्ठे च हृदये चावतिष्ठते ॥

शिरश्चाप्यवमंगुल्य विकारान् कुरुते बह्वन् ।

बाधिर्यं तिमिरं चापि प्रतिश्यायमथापि च ॥

अथ पित्तं कफं वास्य स्थानात् चावयतेऽनिलः ।

ततोऽस्य धातवो दोषैः दुष्यन्ति क्षतजातयः ॥

ततो ज्वरोऽस्य बलवान् पाण्डुत्वं चापि जायते ।

श्वयथुश्च भवेदस्य ग्रहणे(णी)च प्रदुष्यति ॥

तस्माद्धारुणकोष्ठसु गाढविष्ठश्च यो भवेत् ।

रूक्षमन्नं परिहरेत् न चैवमवस्त्रंसयेत् ॥

स्निग्धान्यन्यापि हृद्यानि मांसानि विविधानि ।

कुलुत्थरसयुक्तानि प्रदद्याद्देहिने सदा ॥

आस्थापनं वातहरं तैलं चाप्यनुवासनम् ।

न भवन्ति विकाराणि नरस्य प्रतिकारिणः ॥

अथ यः कलिलश्च स्यात् प्रजाकामश्च मानवः ।

उल्कृष्टतारदांश्च(भाव भारश्च) कर्महीनस्तथैव च ॥

अथस्थूलकृशश्चैव वैद्यमानी च यो भवेत् ।

तथैकलोको यतिकां श्रीत्रियान्नच तद्विजान्(?) ॥

शुभगान् सुकुमारांश्च गर्भिणीं तरुणीं तदा ।

दुर्बलान् श्वयथुप्राप्तान् कासिनः सातिसारिणः ॥

पाण्डुराजैव कर्णश्च सततं यश्चकासति(?) ।

पाययेच्च भिषक्तापैर्वसनं सविरेचनम् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

अथात ऋतुविभागीयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह ।
 न पातव्यमरोगेण सुखरोमे(लोमे)न रेचनम् ॥
 अनीरितानां दोषाणां मारणा न प्रशस्यते ।
 अवस्थितानां च(श) व(म)नं प्राणदाता(ना)य मे मतम् ॥
 यथा व्याळाग्निशस्त्राणां स्पर्शः स्वस्थे तथौषधम् ।
 तस्मान्न पाययेत् स्वस्थं प्रकृत्यर्थं हि धीयते ॥
 अचातुषत्वात्कोष्ठस्य पीतं तन्नेण चौषधम् ।
 याति नैकांततः सिद्धिं तस्मात् स्वस्थं न पाययेत् ॥
 इत्येतद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पुनर्वसुः ।
 इह दोषविशेषेण नरो भैषज्यमाचरेत् ॥
 वाते तु जृम्भणं कुर्यात् पित्ते तु परिशोधनम् ।
 कफे प्रच्छर्दनं साधु सन्निपाति विरेचनम् ॥
 वातातपविशुष्काश्च येच कर्मपरा नराः ।
 अह(ब्धि)यानविशुष्काश्च तान् (श्च) संशोधयेद्भिषक् ॥
 तैलमाषांस्तिलघृतं फाणितं पिष्टमोदकान् ।
 आजं गव्यं मधोरभ्रं मत्स्यान् मांसासवं दधि ॥
 अत्यश्रुता(तो)तिपिबतः सदा च स्वपतो दिवा ।
 दोषा घोराः प्रकुप्यन्ति तेषां साधु विरेचनम् ॥
 किञ्चान्यद्विधिवत्काले स्निग्धस्निन्नं (तु भेष)जम् ।
 मात्रावल्लसु(घु)पे(पी)तं हि न कदाचिद्विपश्यते ॥
 नाचरेदतिमात्रं हि बहुशोऽपि पिबेन्मृदुः ।
 कषायेण तु दातव्यं कषायं साधु सिध्यति ॥
 यथाह्यन्नमकाले स्याद्विषं कालेऽमृतं भवेत् ।
 तथौषधमकाले स्यात्(विषं) कालेऽमृतं भवेत् ॥

तस्माद्यथा वै वसुधा लप्ता पुष्पवती भवेत् ।
 तथा प्रावृषि संप्राप्तौ वमनादीनि कारयेत् ॥
 सदा वर्षासु दातव्यं सदा ह्येष ऋतुस्सुखम् ।
 ऋतवो युक्तशीतोष्णाः प्रशस्यन्ते हि कर्मसु ॥
 हैमन्तेऽप्यन्यथा कार्यो ग्रीष्मे भवति चान्यथा ।
 वर्षासु चाप्यन्यथा च दुर्दिने चाप्यतोऽन्यथा ॥
 तस्मिन् तस्मिंश्च काले वै भवेत्कार्योऽन्यथान्यथा ।
 सात्त्व्यं सात्त्व्यं मनुष्याणां अन्यथा परिवर्तते ॥
 ब्रह्मं तु दापयेत् स्नेहं देये स्नेह(हे) विरेचनम् ।
 नातिशीते न चाल्युष्णे पेयं स्नेहविरेचनम् ॥
 लृणाबाधा भवत्युष्णे शीते तु व्यप(नी)यते ।
 अथ ग्रीष्मे तु सन्तप्तैर्धातुभिर्देहिनो भवेत् ॥
 अतियोगः पिपासा च तथा तस्यां न दापयेत् ।
 हैमन्ते चापि तद्दीर्याद्दीपा दारुणतां गताः ॥
 भवन्त्यकाले स्नेहस्य तथाप्यथ च दापयेत् ।
 इह भैषज्यमुष्णं हि विक्रियामेति कालतः ॥
 तुन्दी भवति वै (पी)ते तु ग्रीष्मे तैश्चां नियच्छति ।
 अमैथुनाच्छुक्लवाहावस्ति सक्थित्विकादि च ॥
 हृदयं दुर्लभं (वर्लं) चास्य समुदीर्णश्च मारुतः ।
 ब्रह्मचारी नरस्तस्मात् पैत्तिकान् जनयत्यथ ॥
 मुखपाकं मदं मूर्च्छां प्रलापं पाकविभ्रमौ ।
 दाहं पिपासां सन्तापं वक्त्रस्याक्ष्णोश्च पि(त्त)तां ॥
 धूमभि(नि)र्दूषितं पित्तविकारा ये प्रकीर्तिताः ।
 भ्रमः क्लमः प्रमोहश्च मदो मूर्च्छा विकम्पनम् ॥
 सन्तापोऽभ्यन्तरे चैव रक्तस्थानगते स्मृताः ।
 अरूपां विवृतानां वा स्फोटानां वा प्रपाचनम् ॥
 रक्तस्थानगते विद्यात्पित्ते वैवर्ण्यमेव च ।
 मांसस्थानगते स्नेहः सदनं चोपजायते ॥

मेरो(दो)र्धा(धा)तुगतो(ति) विद्यात्प्लावनं पित्तमूत्रतः ।
 अस्ति(स्थि)मज्ज(ग)गते शोषो नखदन्तविवर्णते ॥
 मेद्रमुष्कपरीतापः क्लैब्यं वाप्यथ शुक्लगे ।
 बलवद्विग्रहाभारात्पिद(पत)नाल्लङ्घनादपि ॥
 मैथुनस्यातियोगाच्च जायते मनसः क्लमः ।
 आसोद्वेगात् प्रतीघातात् रूक्षपानान्नसेवनात् ॥
 इत्येभिरोदृशैश्चान्यैः हेतु(भिः)कुपितोऽनिलः ।
 विकारान् जनयेत् श्वासकासविष्टभ्रसंज्ञिकान् ॥
 शूलं वेपनमात्मा(धा)नं निस्तोदं सुप्ततां तथा ।
 स्फोटनं चालनं रौच्यं वेष्टनोत्तेपनानि च ॥
 शोषणं कृष्णविष्णन्दो विश्लेषस्तु परः स्मृतः ।
 द्विविधा व्याधयः प्रोक्ताः शरीरे वातसंभवाः ।
 कोष्ठानुसारिणस्तत्र ज्ञेयास्सर्वाङ्गरोगिणः ।
 पक्षाङ्गरोगिणश्चैव ज्ञेयाः, सर्वाङ्गसारिणः ॥
 शूलवेपनसङ्कोचगात्रस्तम्भैश्च पीडिताः ।
 अ(ह)नुग्रहगृहीताश्च सर्वे सर्वाङ्गरोगिणः ॥
 तत्र पादतलाङ्गुष्ठजङ्घजानूरुवक्षणा(णैः) ।
 गुदमेढ्रकटीपृष्ठयोनिगर्भाशयैरपि ॥
 यक्ष्म(प्ली)हांसहृदयपार्श्ववक्षोभुजान्तरैः ।
 ग्रीवागण्डह्रनूशङ्ख(वा)मान्निदशनच्छदैः ॥
 ललाटकण्ठसीमन्तैः प्रत्येकमनिलादितैः ।
 दूयङ्गिर्विकलैश्चापि ज्ञेयास्वेकाङ्गरोगिणः ॥
 इत्येतन्मूलमुद्दिष्टं रोगाणां च यथाविधि ।
 भूयस्त्विनय(दम)धिष्ठानं प्रतिरोगं प्रति(ती)क्षत(ताम्) ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

अथातोऽष्टोदरीयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

अथाष्टावदराणीह मूत्रामा(घ)तांश्च निर्दिशेत् ।
 षट्काचाम(न)ङ्गनाशांश्च जानीयात्तिमिराणि च ॥
 हिक्का श्वासांश्च कासांश्च स्वालित्यं पति(लि)तानि च ।
 शिरारोगावदान् गुल्मान् कर्दीनथ भगन्धरान् ॥
 उन्मादान् मुखरोगांश्च स्थानान्यनशनस्य च ।
 ग्रन्थिं च पञ्च पञ्चैव कुष्ठान्यष्ट विनिर्दिशेत् ॥
 हृद्रोगान् पाण्डुरोगांश्च सास्त्रावांश्च(श्च) यतू(थू)स्तथा ।
 अभिष्यन्दान(धि)मन्दा(न्या)न् क्लीबस्थानानि चाप्यथ ॥
 अक्षिरोगानपस्मारान् रक्तरोहिणकां तथा ।
 पिपासाश्चोपदंशांश्च चतुष्काणि विनिर्दिशेत् ॥
 कुष्ठरोगज्वराशांसि रक्तपित्तव्रणौ तथा ।
 द्वौ द्वौ तिस्रस्तु विद्वध्यस्त्वलज्यः शोणितानि च ॥
 रेतसां स्त्रीपदं चार्म सप्त सप्त विनिर्दिशेत् ।
 प्रमेहान् क्रिमिजातींश्च योनिदोषांश्च विशातिः(म्) ॥
 तत्त्रोदरगुण्यथास्थौ(ष्टौ)तु व्याख्यातानि चिकित्सिते ।
 निदानेनैव रोगास्तु योनोक्तोनि निबोध मे ॥
 अरुणा नीलवी(पी)ता च हरितश्चेतलोहिताः ।
 काचं च लिङ्गनाशं च तिमिराणि च निर्दिशेत् ॥
 वातः पित्तं कफो वापि यस्य शीर्षं विधावति ।
 विदहन्नेष मूलानि स्त्रीतांसि समभिद्रुतः ॥
 अध्वनेवातहाराध्वा देहिनां चार्थकेनच (?) ।
 स्वालित्यं पलितं वापि पञ्च चै(धं)व भवत्यथ ॥
 वातजं पित्तजं चैव श्लेष्मजं सान्निपातजम् ।
 आगन्तुकं पञ्चमं च मुखरोगं प्रचक्षते ॥

उद्धृष्टीवं परिस्त्रावि शम्बूकावर्तमेव च ।
 उन्मार्गं शतयोनिं च तद्वद्विद्याङ्गगन्धरम् ॥
 कृदयत्यधि(पि)वातेन पित्तेन च कफेन च ।
 आहारादमनो(ज्ञा)च्च सन्निपाताच्च पञ्चमम् ॥
 प्रतिच्छन्नेतु हृदये वातपित्तकफैर्नरः ।
 अ(ऱ)य(ऱ)सादमनोज्ञाच(च्च) भोज्यमन्नं स (न)सेवते ॥
 वातजं पित्तजं चैव श्लेष्मजं सन्निपातजम् ।
 शिरोग्रन्थिं विजानीयात्पञ्चमं स्नायुतो भिषक् ॥
 वातजं पित्तजं चैव कफजं सन्निपातजम् ।
 अभिष्यन्दं विजानीयाद दि(धि)मं(न्य') च बुद्धिमान् ॥
 शुक्लोपरोधाद्दीर्घत्वात् ध्वजभङ्गात्तथैव च ।
 शुक्रक्षयाच्च चत्वारि क्लैब्यस्थानानि निर्दिशेत् ॥
 वातजं पित्तजं चैव श्लेष्मजं सन्निपातजम् ।
 अक्षिरीगं विजानीयात् मानवानां चतुर्विधम् ॥
 पूयान्मूत्राच्च शुक्लाच्च सन्धानाच्चापि देहिनाम् ।
 उपदंशं विजानीयात् भिषगेवं चतुर्विधम् ॥
 रक्तास्त्रावं कफास्त्रावं पूयास्त्रावं तथैव च ।
 तोयास्त्रावं च जानीयात् भिषगेवं चतुर्विधम् ॥
 वातजां पित्तजां चैव कफजां सन्निपातजाम् ।
 पिपासामपि जानीयात् भिषगेवं चतुर्विधाम् ॥
 वातजां पित्तजां चैव श्लेष्मजां सन्निपातजाम् ।
 विद्याद्वौहिणिकां चैव भिषगेवं चतुर्विधाम् ॥
 मांसार्म त्वथ मेदोऽर्म प्रसार्यर्म तथैव च ।
 प्रा(स्त्रा)यु(र्य)र्म भव (च वि)जानीयात् भिषगेवं चतुर्विधम् ॥
 द्वौ ज्वरौ दाहशीतौ तु श(ऱ)रीरा(ग)न्तुजव्रणौ ।
 शुष्कार्शः शोणितार्शश्च तथासो (हे) पा(अ)र्श(सी)विदुः ॥
 पृष्ठरोगावुपक्षारि क्षारिणौच विनिर्दिशेत् ।
 अधोभागं तथैवोर्ध्वं रक्तपित्तं विनिर्दिशेत् ॥

बाह्यायामान्तरायामौ विद्यादाक्षेपकौ तथा ।
 मेदसः स्नायुतो मांसात् अलज(ज्य)स्तिस्त्र एव च ॥
 वातात्पित्तात्कफाच्चैव तिस्रो विद्रुधयः स्मृताः ।
 वराहाकारणं(कां)चैव रक्तं(क्ति) का(कां)श(ः)वर्कं(ः) तथा ॥
 वातात्पित्तात्कफाभ्यांसांमेदसः स्नायुतोऽस्थितः ।
 सिरामर्मविजानीयात्सप्तमं देहिनां भिषक् ।
 सप्त(तत्त्व)सात्मग्रानि जानीयात् तत्र षड्विंशथा रसम् ।
 आत्मसात्मा यदेव स्यात् तत्त्वसात्मा तदुच्यते ॥
 मृजजरायुलेवारूपका बहुरूपकौ (?) ।
 परिसर्पा विसर्पाश्च गोत्रजा नेत्रजास्तथा ॥
 रोम (मू)र्दा(र्धा)हिताश्चैव कष्टा दारुणकास्तथा ।
 शिरोजाः दन्तजाश्चैव श्लेष्मजाः शक्तदाश्रयाः ॥
 लोहिताः कालकाश्चैव तथैव शतमातृकाः ।
 विद्याहिंशतिरित्येताः क्रिमिजाताश्च देहिनाम् ॥
 यथा पतत्रि(त्री)शीघ्रोऽपि स्फा(स्व)क्वा(क्वा)यां नातिवर्तते ।
 वाताते(दे)र्नातिवर्तन्ते बहवोऽपि तथामयाः ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले षड्विंशोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानविधीयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

अथोदकं स्नेहयति लवणं स्यन्दयत्यपि ।
 अथ पाचयति क्षार(रः) स्ने(स्त्री)रं वै जवयत्यपि ।
 स्नेहयत्यथ सर्पिश्च वि(पि)शितं ब्रह्मयत्यपि ॥
 माषा बहुमलाश्चापि श्लेषदं जनयेद्दधि ।
 त्वचं प्रसादयेत्तैलं स्नेहनाय च कल्पते ॥

पिण्याकं कुरुते ग्लानिं तक्रं च क्षपयत्यपि ।
 मधु चाप्यथ सन्धत्ते जर्जरीकुरुते सुरा ॥
 हरेणुभिर्मसूरैश्च शृशं वायुः प्रकुप्यति ।
 कफकृन्मूलकं विद्यात्सर्षपं वातकोपनम् ॥
 लशुनं वातशमनं पित्तश्लेष्मकरं च तत् ।
 नातिश्लेष्मकरं हिङ्गु पाण्डुरं क्षारः करोति च ॥
 सर्वतित्त(1)मवृष्य(1) सु(नु) विद्यान(द)त्र(प्र)प्र(ति)कूलकात्(म्) ।
 अवृष्यं पैष्टिकं सर्वं यवगोधूवर्जितम् ॥
 दाति(डि)मामलकादन्यत् सर्वमास्त्वन्तु पित्तकृम् ।
 यवकान् दारुणान् विद्यात् पृथुकान् शाति(लि)षष्टिकान् ॥
 निर्दिशेन्मृगतुल्यांस्तु तथाऽऽनूपान्मृगद्विजान् ।
 तथैवैक(श)षां(फाँ)श्चापि जाङ्गलान्मृगपक्षिणः ॥
 इत्येतत्सङ्ग्रहेणोक्तं भोज्यं विस्तरतः शृणु ।
 पिप्पली शृङ्गिवेरं च पलाण्डुलशुनानि च ॥
 मूलकं कृष्णगन्धा च पर्णासिं कालमालकम् ।
 सुरसं सुमृतं चैव चटकं च फणिज्जकम् ॥
 रसेन कटुकं विद्यात् विवा(पा)के मधुरं तथा ।
 किराततित्तो निम्बं च केतुकाशकठलकाः ॥
 कूलकं च सवेलाग्रं तित्तकं मधुकलुव(वल्लिका) ।
 प्लक्षकाश्मर्यमधुकं खेदपाक्रीयरूपकम् ॥
 खर्जूरं नारिकेलं च प्रियालं गस्त्र(व्य)धानिच ।
 मधुकं च वसं चैव शि(से)वनीयानि यानि च ॥
 रसे पाके च मधुरं तद्विद्याद्विविधं च यत् ।
 ब(वु)सानि क(टु)का बिम्बी सर्वं चैवेक्ष्यैकतम् ॥
 रसे पाकेच मधुरं तद्विद्याद्विविधं च यत् ।
 न्यङ्गुं च(श) रस(भ)मुद्रां(द्राँ)श्च सहितान् खड्गसूश(क)रान् ॥
 अन्यांश्चाकू(नू)पजान्विद्यान् मधुरान् रसपाकतः ।
 कादम्बान् सैन्धवान् हंसान् सारसान् श्वेतगरुणम्(तः) ॥

काचाक्षान्मल्लिकाक्षांश्च तथा पुष्करसा(शा)(यि)काम् ।
 दिपवैप्रिसुरारिंश्च विक्रमान् सुमनासुखान्(?) ॥
 नन्दिमौड्यकांश्चापि कालकान् कृष्णपुच्छकान् ।
 अज्ञातान् डुण्डुभांश्चैव मण्डूकान् क्षुद्रमत्स्यकान् ॥
 हर्षातु सप्तवारादि तथा गर्दभतासकान्(?) ।
 सर्वांश्च वारिजान्विद्यान् मधुरान् रसपाकतः ॥
 प्रियङ्गुश्च प्लवङ्गश्च बलाकाश्च खगास्तथा ।
 ये चान्येऽप्यौदका भौम्याः खेचराश्च खगाः स्मृताः ॥
 नक्रांश्च शिंशुमारांश्च वल्लके(रिं) मत्स्यकच्छपाः(न्) ।
 अन्यांश्च वारिजान्विद्यान् मधुरान् रसपाकतः ॥
 प्रियङ्गुश्च विनक्तांश्च नीलिकाशालिषष्टिकाः(न्) ।
 परूषकांश्च नीवाराः(न्) कीदृवाः(न्) ब्रह्मभूतिकाः(न्) ॥
 इत्येता(तद्वा)न्यजातं वै यच्चान्यदपि तद्विधम् ।
 रसेन मधुरं तद्वै विपाके कटुकं विदुः ॥
 मुद्गान् मसूरांश्चणकान् कुलुत्थांश्च सलीलकान् ।
 रसेन मधुरांस्तान् वै विपाके कटुकान्विदुः ॥
 रोहीन् श्वदंष्ट्रानुष्टांश्च शरभान्मृगमातृकान् ।
 अथान्यान्मधुरान् स्वादून् विपाके कटुकान्विदुः ॥
 खराश्चाश्वतरामाषा(हा) (ये) चान्ये (तद्वि)षा(धा)मृगाः ।
 रसेन मधुरांस्तान्वै विपाके कटुकान्विदुः ॥
 हरितांस्तोककांश्चैव कपोताञ्च शुकशारिकान्(ः) ।
 चटकान् भृङ्गराजांश्च तथा पिप्पलकानपि ॥
 गोधापुत्रांस्तैलपाकान् येचान्ये प्रधुता(मधुराः) खगाः ।
 अनुपानानि वक्ष्यामि ये(ए) पृ(षु)यानि हितानि वै ।
 आजी(जि)कषायशोतसु हायने वोध(द)कं तथा ॥
 अनुपानं विधातय्यं वाराहिखदिरोदरम् ।
 दधि व(त)क्रं च धान्यानां अनुपानं प्रदापयेत् ॥
 शीतोदकं विषग्रन्थि सेव(व्य)ना(मा)नां(नान्) तथाऽऽसवान् ॥

तद्वारिजानां सत्त्वानां अनुपानं प्रदापयेत् ॥
 त्रिफलां सीधु मार्हीकं कदम्बपनसोदकम् ।
 सुरद्रुजम्बू मूलाणां फलस्कन्धासवान् पृथक् ॥
 मुन्नादिसूषधान्यानां (अनुपानं) प्रदापयेत् ।
 बिल्वपिण्डककल्कानां कपिल्यस्थायवाऽऽसवान् ॥
 गुहाशयानां सत्त्वानां अनुपानं प्रदापयेत् ।
 न्यग्रोधादिगणस्थाय स्कन्धशाखाफलासवान् ।
 विष्किराणां विहङ्गानां अनुपानं प्रदापयेत् ।
 ककुभस्यानुपानं तु स्निग्धानां चापि वारुणीम् ॥
 चतुर्विधस्य स्नेहस्य तीयमुष्णं प्रदापयेत् ।
 द्राक्षाकाश्रम्य खर्जूर शिववाक्य(व्य)स्तथासवान् ॥
 प्रमदानां विहङ्गानां अनुपानं प्रदापयेत् ।
 अश्वगन्धकषायां तु वारुणीमण्डमेव च ॥
 प्रसङ्गानां विहङ्गानां अनुपानं प्रदापयेत् ।
 सुखेन वा(पा)चयत्यन्नं रोचयत्यपकर्षति ॥
 अनुपानं मनुष्याणां सात्मतां च प्रयच्छति ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले सप्तविंशोऽध्यायः ॥

अथातो भोजनविधौयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

यज्ञक्षयति भुङ्क्ते वा विधिवच्चापि मानवः ।
 अ(पे)यंच किञ्चित्पिबति तत्सर्वं षड्सान्वितम् ॥
 पथ्यापथ्यमबोधार्थं तस्माद्भोज्यं शरिरिणाम् ।
 वसतो विध्यतश्चैव प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ॥

शालयो मधुरास्सर्वे विपाके कटुकाः स्मृताः ।
 रक्तशालिर्वरस्तेषां अरौच्याल्ले(ला)ख(घ)वेन च ॥
 दीर्घा(र्घ)शूरो(का) महावा(व)लिः(ल्ली) सुगन्धिः शालिकामुखः ।
 कृष्णव्रीहिः कांचनकी लोपार्त्तः(?) शीतभीरुकः ॥
 हायनो लोभ्रशालिश्च रक्तशालिः गुणान्वितः ।
 पूर्वपूर्वी लघुतरः वक्ता (पञ्चात्) किञ्चिद्भवत्यदः ॥
 सुगन्धका गन्धवन्तो गन्धेन मदयन्त्यथ ।
 रौच्याच्च कमलं विद्यादधिकं वै विशेषतः ॥
 कषायस्त्वधिकः किञ्चित् प्रष्टिकाशालिभिस्समाः ।
 महादोषाः सुगुरवः पाटला व्रीहयस्तथा ॥
 यवका नित्यम(र्)हिता कृष्णव्रीहिप्रमोदकाः ।
 विस्मृष्टा मधुरास्ते वै सकषायाश्च कीर्तिताः ॥
 बहुमाक्षाः कषायाश्च कीरदूष सवारुणाः ।
 प्रसाधिकाः कम्प(का)श्च श्यामाकाश्च समा रसेः ॥
 उदाकरास्तु सङ्ख्या(न्या)दौ कषाया मधुरा रसे ।
 शोषे त(तु)सेवितास्ते वै कोपयन्त्याश्च मारुतान् ॥
 यवास्त्वतियवाश्चैव गोधूमाश्च समा रसे ।
 मधुराः सकषायाश्च श्लेष्मका लोहिता नृणाम् ॥
 अथ वेणुयवानां तु कषाया मधुरा रसे ।
 कफं पित्तं च मेदश्च कोपयन्त्यतिसेविताः ॥
 कृष्णा मुन्ना महामुन्नाः हरिताश्चिरजोविनः ।
 मकु(मुन्न)ष्टकाश्च तैऽप्युक्ताः कषाया मधुरा रसे ॥
 हरेण्वो मसूराश्च सतिताश्च तथाढके ।
 कुलुत्याश्च विशेषेण कषायमधुरा रसे ॥
 सर्वे तु लवणक्षाराः दिव(दीप)नीय(र्) प्रकीर्तिताः ।
 आपृ(पू)ष्या(प्या)श्च विशेषेण दुर्बलानां हितानि च ॥
 श्वदंष्ट्रा यावनाळश्च द्वौ क्षारौ शीतली स्मृतौ ।
 शुक्तं(क्लं) विनिहि(ह)तस्तौ तु दृष्टिं चापि शरीरिणाम् ॥

नवनीतं तथाऽञ्जतु घृतं वै मधुरं स्मृतम् ।
सर्वं दुग्धमभिष्यन्दि गन्धं तेभ्यो विशिष्यते ॥
वाजी भवति दुग्धेन बलं चाप्युपजायते ।
संजीवनं संभवति सर्वं क्षीरमुदाहृतम् ॥

(तैलगुणाः ।)

रसे पाके च मधुरं तैलं सर्वं प्रकीर्तितम् ।
यस्मिन्यस्मिन्विशेषस्तु यो यस्तस्मिन्निबोधत ॥
तैलमेरण्डविल्वानां उष्णं वातहरं स्मृतम् ।
इत्युक्तान्युष्णवीर्याणि यदस्य (न्यन्) शीतमेव तत् ॥
विभीतकानां तैलं तु कषायमधुरं रसे ।
कफपित्तहरं प्रोक्तं केश्यं चैव शरीरिणाम् ॥
अतः करञ्जबीजानां विज्ञेयानि तथैव च ।
तैलानि रसतो विद्यात् तिक्तानि मधुराणि च ॥
पित्तश्लेष्मकरं पित्तं इङ्गदी तैलमुच्यते ।

(कषायगुणाः ।)

सकषायं मधूकानां कफपित्तानिलोपहम् ॥
कोलकं मधुरस्पर्शं रसतोऽथ विपाकतः ।
यस्मिन्यस्मिन्विशेषस्तु यो यस्तं मे निबोधत ॥
पलालजात चा(च्छ)त्राकं अतीव गुरु सन्मतम् ।
महादोषा(ष)मभिष्य(न्दे)मुखं बाह्योपघातकम् ॥
छात्रकं(क) गौरिसंहीत(तं)कषायमधुरं रसे ।
कषायं वैष्णुछात्राकं मारुतं कोपयेत् नृणाम् ॥

(शाकगुणाः ।)

सर्वं तु शाकं मधुरं रसतोऽथ विपाकतः ।
यस्मिन् यस्मिन् विशेषस्तु यो यस्तस्मिन्निबोधत ॥
मारुतं कोपयेत् नृणां विष्टम्भी त्वय लावुकम्(१) ।
श्लेष्माणं वर्धयेच्चापि विपाकेन बलीयसा ॥

कृष्णण्डं श्लेष्मलं विद्यात् नवं शरदि भक्षितम् ।
 तदल्पदोषं भवति परिसंवत्सरोषितम् ॥
 कषायमधुरं विद्यात् खादिरं चातिसा(श)रिच(वाम्) ।
 तिक्तं(क्त) दी(के)(न) च संसृष्टं निर्दोषं तच्छरीरिणाम् ॥
 कोशातकी करीणां(रा च) शतावर्याश्च तिक्तकम् ।
 कषायं नालिकायाश्च तिक्तः पुष्करवर्तकः ॥
 वेत्रायं तिक्तकं निम्बं तिलशाकं च सीतिका ।
 कुरुटि(रुण्ट)का कुनटिका त(ऽ)रा-गन्धर्वहस्तकः ॥
 तथा (च) नालितायाश्च पञ्चाङ्गुल्यस्थैव च ।
 एतानि विद्याच्छाकानि तिक्तानि रसपाकतः ॥
 स(न)वि(वी)नशाकं मधुरभीषत्तिकोपसंहितम् ।
 कोविदारस्य शाकं तु पू(पु)र्वै(न)भै(र्भ)वसमन्वितम् ॥
 वार्ताकिनां फलं तिक्तं कटुकेनोपसंहितम् ।
 ग्रहणीं दीपयत्येतत् श्लेष्माणं विनिहन्ति च ॥
 कुरालवकुली चैव मधुरौ शुक्लशोणितौ ।
 हतस्तन्द्रां च वातं च निला(द्रा)मेव विषूचिकाम् ॥
 अलंबुसः सकटुकः तिक्तको वातकोपनः ।
 भिनत्ति कफसङ्घातं विष्टंभ्याऽथ विपच्यते ॥
 लाङ्गशाकं तु मधुरं लवणेनोपसंहितम् ।
 कटुकं बहुदोषं च तथा(ऽ)पक्ष(त्थं)नि(वि)का(रो)चनम् ॥
 कटुका दीपनीय(ऽ)श्च(च) विषहा स्वस्तिका रसे ।
 कषायमधुर(ः) च्छि(श्चि)स्त्रि(त्तिः)चुङ्गू(चुङ्गू)र्मधुरशोतळः ॥
 भार्ङ्गी माषश्च मधुका(रौ) रसतः परिकीर्तितौ ।
 सुन्नशाकं सतिक्तं तु सच्चा(रौ)रश्चैव वास्तुकः(म्) ॥
 निष्पावशाकं मधुरं माषशाकं च तत्स्मृतम् ।
 चन्द्रार्कशाकमल्लं तु कषायसु गवेधुकः ॥
 तुङ्गा(लोध्र)कं प्रपुनाटश्च जीवन्ती सुनिषण्णकम्(ः) ।
 मधुराण्यल्पदोषाणि तथैव तु कुटिञ्जक(रः) ॥

पिण्डालुशाकं च नवन्तु(सु) गण्ड(न्ध)कफलानि च ।
 मधुराण्यल्पदोषाणि संस्पृष्टकटुकानि च ॥
 उपोदका तु मधुरा लवणेनोपसंहिता ।
 इत्येतन्निर्दिशेच्छाकं म(य)दस्य(न्य) दपि तद्विधम् ॥

(मांसगुणाः ।)

आजं गव्यमधू(थौ)रभ्रं वाराहं चैव यत्स्मृतम् ।
 हस्तिमांसं च मधुरसु(मौ)द्रं गुरु च निर्दिशेत् ॥
 विद्यादेवंगुणं चैव सकषायं च माहिषम् ।
 खड्गमांसमभिष्यन्दि सखादु लवणं रसे ॥
 क्षतमायुर्मयूरश्च गोकर्णो गवयो गुरुः ।
 मृगरश्चमरो न्यङ्कुः मधुरा गुरवश्च ते ॥
 ऋश्यश्च मृगमाता च तुङ्गश्च हरिणी मृगाः ।
 पारावत (१).....

(इत्याह भगवानात्रेयः ॥)

(इति भेलेऽष्टाविंशोऽध्यायः)

(इति भेले एकोऽनन्विंशोऽध्यायः)

(इति भेले त्रिंशोऽध्यायः)

(इति भेल-संहितायां सूत्रस्थानं समाप्तम् ॥)

(अथ निदानस्थानम्)

(इति भेले निदाने प्रथमोऽध्यायः ।)

(साहसजक्षयः ।)

रू(उरो)विघातात्तस्याथ ज्वरः(ः)कासश्च जायते ।
स्वरस्तीदति चाप्यस्य निष्ठीवति सशोणितम् ॥
अथवाप्यवशो जन्तुः शश्वत्स परिहीयते ।
इत्येतैर्लक्षणैर्विद्यात्साहसप्रभवं क्षयम् ॥

(सन्धारणजक्षयः ।)

यावत्स बलवानिव ब्रह्मय(ये)त्तो(त्ता)वदेव तम् ।
यस्माद्वल समावेशं पुरुषस्ये(स्यै)व जीवितम् ॥
स यदा गुरुमध्ये वाप्यथवा राजसंसदि ।
गोष्ठे स्त्रीद्यतमध्ये वा हस्तिपृष्ठेऽथवा रथे ॥
भयात्प्रसङ्गाच्च क्री(स्त्री)यादृणित्वाद्वापि मानवः ।
प्राप्तपातं पुरीषं वा मूलं वापि रुणद्धि यः ॥
तस्य सन्धारणीध्वा(णाद्वा)युरुर्ध्वभागे समीरितः ।
उरः(ः)शूलं पार्श्वशूलं गुल्मं च जनयत्यथ ॥
गुल्मजन्मनिमित्तश्च ज्वरः कासश्च जायते ।
सर्वं प्रभिद्यते चास्य निष्ठीवति सपूतिकम् ॥
अथवाप्यवशो जन्तुः शश्वत्स परिहीयते ।
इत्येभिर्लक्षणैर्विद्यात् सन्धारणक्षतं क्षयम् ॥

(अतिमैथुनजक्षयः ।)

आत्माथं लज्जते जन्तुर्गुरोर्वा स्त्रीजनस्य च ।
तस्मादत्माथमेवेह प्राप्तवेगं न धारयेत् ॥

स यदा दुर्बलो जन्तुः क(फ)ल्(ला)हारः क्लशोऽपि वा ।
रूक्षभोजि(जी)विशेषेण स्त्रियो यश्चातिसेवनात्(तं) ॥

• सरक्तं कुरुते मूलं जन्तुः शुक्लपरिचयात् ।
रितःस्थानं च सुधिरं वायुरस्य प्रधावति ॥
तस्य वाताभिभूतस्य ज्वरः कासश्च जायते ।
स्वरः सौदति चाप्यस्य निष्ठीवति सशोणितम् ॥
अथवाप्यवशो जन्तुः शश्वत्स परिहीयते ।
इत्येभिर्लक्षणेर्विद्यात् अतिमैथुनजं क्षयम् ॥
रतिमूलं शरीरं हि शरीरस्य रतिः फलम् ।
तस्मात्फलार्थी मूलार्थं स्त्रियस्सेवेत युक्तिः ॥

(विषमाशनजक्षयः ।)

स यदा दुर्बलो जन्तुः सेवते विषमाशनम् ।
भुञ्जानस्यास्य विषमं वैषम्यं यान्ति धातवः ॥
ततः पुरीषमेवेह वर्धयत्यस्य भोजनम् ।
नावाप्नोति रसं देहे विवृतस्येव देहिनः ॥
रसे निवृत्ते तस्याथ ज्वरः कासश्च जायते ।
स्वरः सौदति चाप्यस्य निष्ठीवति न(स)शोणितम् ॥
अथवाप्यवशो जन्तुः शश्वत्स परिहीयते ॥
इत्येभिर्लक्षणेर्विद्यात् विषमाशनजं क्षयम् ॥
तस्मादर्थी शरीरार्थं रसभोजनमिच्छति ।
शरीरापेक्षया तस्मात् आहारं सुसमाचरेत् ॥
इति चत्वारि शोषाणि सूक्तान्यायतनानि मे ।
(या)वि(नि)बुद्ध्या परिहरेदारोग्यार्थी पुमानिह ॥
बुद्धौ चारोग्यमायन्तुमिति युक्तं महर्षये(?) ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले निदाने द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथातो गुल्मनिदानं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(गुल्मविभागः ।)

वातात्पित्ताल्फाच्चैव निचयादथ लोहितात् ।

पञ्च गुल्मा फलं ते(न्तीह)ह तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(वातगुल्मः)

स यदा वाततो(लो) जन्तुः() वातलं भजतेऽशनम् ।

धावति प्लवते वापि रात्रौ जागर्ति वा पुनः ॥

अतिप(तीय)तेऽतिहसति स्त्रियो वातिनिषेवते ।

उदावर्तयते वापि कर्म चापि(ति) निषेवते ॥

वृक्षप्रपतनाद्वापि हृदयत्यथवा बलात् ।

तस्यैवं कुपितो वायुरामाशयमुपागतः ॥

पार्श्वयोर्हृदि विक्षेपाद्गुल्मं संजनयत्यथ ।

स सङ्कड्भवति स्थूलः पुनर्भवति चाप्यणुः ॥

तोदस्फुरणसंयुक्तो विध्यते च विधावति ।

वेदनां जनत्यत्येषः ज्वरं संजनयत्यपि ॥

वस्तिशीर्षं च सङ्गृह्य दारयन्निव तिष्ठति ।

विषं भवति चाहारो मूर्धानं प्रतिपद्यते ॥

पुनश्च दृश्यते व्यक्तं पुनर्नश्यति चाप्यथ ।

करोति गाढं दुःखेन पुरीषं वातशोणितम् ॥

क्वणाभाष(स)श्च पुरुषो वातगुल्मः स दृश्यते ।

(पित्तगुल्मः ।)

यस्सरा(दा)पित्तिलो जन्तुः() पित्तलं भजतेऽशनं ॥

अग्रमाण्णिन दुर्मेधाः सेवते चातिपा(मा)नता(तः) ।

तस्यैवं कुपितं पित्तं आमाशयमुपागतम् ॥

पार्श्वयोर्हृदि कुक्षौ वा गुल्मं सञ्जनयत्यथ ।
 उष्ण(ण)ते दूयते चापि दह्यते दूष्यते तथा ॥
 नित्यं तप्तश्च रक्तं च खेदं मुञ्चत्यभीक्ष्ण(कं) ।
 अयोगोलो यथा तप्तस्तथा स्थानगतो हरेत् ॥
 तृष्णां मूर्च्छां च जनयेत् स्थानादपि विसर्पति ।
 वेदना परमा चैव तस्मिन् स्थाने प्रजायते ॥
 पुरा जातानि लोमानि तस्माद्गुल्मपरिग्रहात् ।
 च(च)व्य(व)न्ते स(न)चि(वि) जायन्ते यावत् व्याधिर्न शाम्यति ।
 पित्तगुल्मेन पुरुषः पीताभासश्च लक्ष्यते ।

(श्लेष्मगुल्मः ।)

यस्मदा श्लेष्मणो(लो) जन्तुः श्लेष्मलं भजतेऽशनम् ॥
 अप्रमाणेन दुर्मेधा दिवा स्वप्नरतस्तथा ।
 तस्यैवं कुपितः श्लेष्मा ह्यामाशयमुपागतः ॥
 पार्श्वयोर्हृदि कुक्षौ वा गुल्मं संजनयत्यथ ।
 न चास्य स्वदते भोज्यं भो(भु)क्तं न च विपच्यते ॥
 श्लेष्मणा सह भुक्तं च मुहुर्ध्वं प्रपद्यते ।
 शुक्लमूत्रपुरीषश्च शुक्लाभासस्तथैव च ॥
 शुक्लनेत्रश्च भवति गुल्मे श्लेष्मसमुद्भवे ।

(निचयगुल्मः ।)

यस्मदा कर्शितो जन्तुः व्याधिना(तो) भेषजेन वा ॥
 असञ्जातवलाग्निश्च दोषलान्युपसेवते ।
 तस्य सन्निचिता दोषा गुल्मं कुर्वन्ति दारुणं ॥
 तत्र सर्वाणि रूपाणि दृश्यन्ते सन्निपातके ।

(लोहितगुल्मः ।)

अथ लोहितगुल्मसु स्त्रीणामेव प्रजायते ॥
 नातो भवति नृणां तु तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ।
 अचिरप्रच्यते गर्भे सूतिकायास्तथा(ऽ)चिरात् ॥

अतिप्रजननाद्वापि तथा(ऽ)प्रजननेन वा ।
 सन्धारणद्वा पा(भा)रस्य रक्तमाश्लापयेत्ततः ॥
 सशोणिते स्थिते नारी गर्भिणी स्त्रीति मन्यते ।
 स(ऽ)मया(न्य)थ शूलानि तस्याः कुक्षौ भवन्त्यथ ॥
 कोष्ठे गुल्मोदरं तच्च गर्भोऽयमिति मन्यते ।
 गर्भोऽयमिति च व्याधिर्वर्षमेकं बह्वन्यपि ॥
 धारयत्यथ निर्भेदं कथंचित्सं नियच्छति ।
 अथास्याः कालपर्यायात् सक्षीरौ भवतः स्तनौ ॥
 कृशा भवति ना(सा)पाण्डुर्दोष(ह)दं चाभिनन्दति ।
 हृदिर्निष्ठोविका चैव तन्द्रा चैवं प्रबाधते ॥
 पादयोः श्वयथुश्च स्याद्रक्तगुल्मे प्रदुष्यति ।
 एषां तु खलु पञ्चानां गुल्मानां यदुदाहृतम् ॥
 विद्यादनाद्यं(साध्यं) निचयं यत्र(त्त) साध्यांस्तथैतरान् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले निदाने तृतीयोऽध्यायः ॥

अथातः कासनिदानं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(कासविभागः ।)

वातात्पित्ताल्फाच्चैव क्षताद्वाथ क्षयादपि ।
 पञ्च कानां(सा) भवन्तीह तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(वातकासः ।)

यस्मदा वातलो जन्तुद(र)साल्मं वै निषेवते ।
 रूक्षमश्नाति पिबति रूक्षं खादति हि बहु ॥

तस्य वातः प्रकोपितो गृहीत्वा हृदयं ततः ।
 ऊर्ध्वं संप्राप्य धमनि(नी)र(स्त)र(तः) कासाय कल्पते ॥
 उरश्शूलं पार्श्वशूलं पृष्ठस्तम्भस्य(श्च) जायते ।
 आटोप्यतेऽस्योदरं च शिव(र)श्चास्यातिमन्य(ग्न्य)ते ॥
 उरोभिवातात्पार्श्वे च गृह्येते इव देहिनः ।
 गप(कफः)प्रकाश(स)मानस्य (स)संरम्भः प्रवर्तते ॥
 सततं कासमानस्य मूत्रं कासो रुणद्धि हि ।
 इत्येभिर्लक्षणैर्विद्यादातकासं शरीरिणाम् ॥

(पित्तकासः ।)

यस्मदा पित्तलो जन्तुरसात्म्यं वै निषेवते ।
 अस्ममश्नाति पिबति खादत्यांखादयत्यपि ॥
 तस्य पित्तं प्रकुपितं गृहीत्वा हृदयं ततः ।
 ऊर्ध्वं संप्राप्य धमनीः ततः कासाय कल्पते ॥
 ग्रथितं श्लेष्मणा कासं निष्ठीवति सपूतिकम् ।
 दुष्टश्लेष्मः प्रतिश्यायः श्लेष्मकासेन जायते ॥

(क्षतकासः ।)

साहसं कर्म यः कृत्वा वी(वि)क्षि(क्ष)तं खेदयत्युरः ।
 निष्ठीवति सरक्तं च का(से)सः क्षतसमुद्भवे(वः) ॥

(क्षयकासः ।)

स्त्रीषु सक्तश्च यो जन्तुः तस्य शुक्लपरिचयात् ।
 लिङ्गं वाताभिभूतत्वात्सूचीभिरिव मंद्य(ग्न्य)ते ॥
 सरक्तं कुरुते मूत्रं तथा भुक्तं च लोहितम् ।
 सरक्तं कासते चापि क्षये(य) कासः स सम्मतः ॥
 सर्वे तु ते समुद्दिष्टाः कासा लक्षणतो मया ।
 तानवेक्ष्य भिषग्बुद्ध्वा ततः कुर्याच्चिकित्सकम् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले निदाने चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(कुष्ठनिमित्तानि ।)

पिप्पलीं काकमाचं (चीं) च लिङ्गुचं दधिसर्पिषा(षी) ।
 वाताहिं पयसा सार्धं कुटेन सह मूलकम् ॥
 अन्यदेवं विधं यच्च विरुद्धं तत्समश्नतः ।
 कृदिं प्रतिघ्नतश्चापि मिथ्यासंसर्गसेवनात् ॥
 मत्स्यान् पयश्च निम्बांश्च तथैकघ्न्य समश्नतः ।
 अनुलिख्य(ः) विदग्धं च(ः) विदाहिं च समश्नतः ॥
 जन्तोः सञ्जायते कुष्ठं तद्विधानां च सेवनात् ।
 पथ्याचा(हा)राद्विरिक्तस्य श्रान्तस्योदकसेवनात् ॥
 यस्मदा श्लेष्मलो जतुः श्लेष्मलं भजतेऽशनम् ।
 सेवते च दिवा स्वप्नं तस्य श्लेष्मा प्रवर्धते ॥
 स वृद्धो दूषयत्यस्य मांसं त्वयुधिकं(रं) तथा ।
 उत्साद्यते त्वग्दोषेण स्त्रियते तेन चाप्यथ ॥

(कुष्ठविभागः ।)

तत्र कुष्ठानि जायन्ते दद्रुसिद्ध(भ्र)ानि वै पुनः ।
 मण्डलानि च चित्राणि तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(दद्रुकुष्ठ-लक्षणम् ।)

मण्डलानि घनानीह पिटकाभानि सर्वशः ।
 सकण्डूनि विमर्षाणि दद्रुकुष्ठानि निर्दिशेत् ॥

(सिध्दकुष्ठ-लक्षणम् ।)

प्रस्रवन्ति यदा तानि दोष(ी)क्षत्रानि देहिनः ।
 तथास्य कीलं दो(दू)षं(ष्यं) च पिच्छिलं संस्रवन्ति च ॥

संहितानि विपाण्डूनि पङ्कलोष्ठचितानि च ।
त(त्व)गुत्वा(त्या)पितरूक्षाणि मण्डलानि तनून्यपि ॥
सिद्ध(क्ष)कुष्ठानि जानीयात्तदा तानि भवन्ति वै ।

(मण्डल-कुष्ठ-लक्षणम् ।)

पिच्छिलं मधुवर्णं च यदा दोषाः स्रवन्ति च ॥
मण्डलानि च शुक्लानि घनोत्सन्नानि सर्वशः ।
विद्यान्मण्डलकुष्ठानि चिर(र)भेदीनि देहिनाम् ॥
यदा तु तानि भिद्यन्ते तदा स्वे(श्वे)तं स्रवन्ति हि ।
इति श्लेष्मसमुत्थानि त्रीणि कुष्ठानि निर्दिशेत् ॥

(वातप्रकोपनिमित्तकस्य कपालकुष्ठस्य
लक्षणम् ।)

यस्मदा वातलो जन्तुः वातलं भजतेऽशनम् ।
वातातपौ सेवते च तस्य वातं प्रवर्धते ॥
स वृद्धो दूषयत्यस्य त्वङ्मांसरुधिरं तथा ।
उत्प(स)ाद्यते त्वग्दोषेण स्विद्यते तेन चाप्यथ ॥
कपालकुष्ठं तेनास्य प्रदुष्टे मांसशोणिते ।
जन्तोर्विवृद्धवातस्य तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
परुषाण्यरुणाभानि मण्डलानि समानि च ।
विद्यात् कपालकुष्ठानि चिर(र)भेदीनि देहिनाम् ॥

(पित्तप्रकोप निमित्तानि
कुष्ठानि ।)

यस्मदा पित्तलो जन्तुः पित्तलं भजतेऽशनम् ।
वातातपौ सेवते च तस्य पित्तं प्रकुप्यति ॥
तवृद्धं दूषयत्यस्य त्वङ्मांसरुधिरं तथा ।
उत्पा(त्सा)द्यते त्वग्दोषेण स्विद्यते तेन चाप्यथ ॥
ततः कुष्ठानि जायन्ते प्रदुष्टे मांसशोणिते ।
पित्तस्य परिकोपेन तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(औदुम्बरकुष्ठम् ।)

पक्वौदुम्बरवर्णानि मण्डलानि(नी)ह यानि तु ।
विद्यादौम्बराण्यत्र तान्यसाध्यानि देहिनाम् ॥

(मण्डलीककुष्ठम् ।)

प्राप्नुवन्ति यदा भेदं कुष्ठान्यौदुम्बराणि च ।
मण्डलीकानि कुष्ठानि तदा तानि भवन्ति वै ॥

(पुण्डरीककुष्ठम् ।)

मण्डलानि च यानीह पुण्डरीकनिभानि वै ।
पुण्डरीकानि साध्यानि तानि विद्याद्विचक्षणः ॥

(ऋश्यजिह्वा-कुष्ठम् ।)

प्राप्नुवन्ति यदा भेदं पुण्डरीकानि यानि वै ।
ऋश्यजिह्वानि कुष्ठानि तदा तानि विनिर्दिशेत् ॥
नीलोत्पलसवर्णानि मण्डलानीह रूपतः ।
ऋश्यजिह्वानि कुष्ठानि तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥

(काकण-कुष्ठम् ।)

प्राप्नुवन्ति यथा भेदं ऋश्यजिह्वान्यशेषतः ।
काकणानीति मतिमान् तथा तानि विनिर्दिशेत् ॥
काकण्दिकन(स) वर्णानि मण्डलानीह यानि तु ।
काकणानीति तान्याहुः प्रत्याख्येयानि देहिनाम् ॥
इति कुष्ठनिदानं वै व्याख्यातमनुपूर्वशः ।
तान्निशम्येह मतिमान् हितज(जी)र्णाशनो भवेत् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले निदाने पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(प्रमेहविभागः ।)

प्रकृतिप्रभवश्चैव नरस्य स्वकृतस्तथा ।

ज्ञेयः प्रमेहो द्विविधः तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(प्रमेहनिमित्तम् ।)

श्लक्ष्णाङ्ग मृदव (:) स्निग्धा भृशं श्लेष्मलमेदुराः ।

जातप्रमेहा नर्दन्ति मत्स्यमांसोचिता नराः ॥

मातापितृभ्यामीदृग्भ्यां जनितो यस्तु मानवः ।

मेदश्शिथिलनात्तस्य प्रकृत्या स तु मेहति ॥

(मेदोवृद्धिनिमित्तम् ।)

आनूपजानां सुस्निग्धैः विविधैश्चापि वारिजैः ।

गव्याजौरभ्रमांसैश्च सद्यो दध्ना धृतेन वा ॥

गुडप्रकारैः पयसा पल.....नोदरैः खगैः (?) ।

अव्यायामाद्दिवा स्वप्नात् सुखशय्यासनात्तथा ॥

इत्येभिरीदृशैश्चान्यैरे(र्मे)दः स्निग्धैः प्रवर्धते ।

(दशविधप्रमेहनिमित्तम्

तन्नामानि च ।)

मेदः प्रवृद्धं मेहं च वस्तिं च क्लेदयत्यपि ॥

यस्सदा मेदसा क्लिन्नः श्लेष्मलं भजतेऽशनम् ।

तस्य प्रकुपितः श्लेष्मा प्रमेहान् कुरुते दश ॥

तद्यथोदकमेहं च पिष्टमेहं तथैव च ।

एवमादीन् तधा(थाऽ)न्यांश्च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(उदपिष्टेक्षुशुक्लमेहानां लक्षणम् ।)

स्फटिकाम्बुनिभं मूत्रं उदमेही प्रमेहति ।

शुक्लपिष्टनिभं चापि पिष्टमेही प्रमेहति ॥

काण्डेक्षुरसवन्मेही मेहति(ती) क्षुरसोपमम् ।
 मूलं शुक्लोपमं चापि शुक्लमेही तु मेहति ॥
 इत्येतान् चतुरो मेहान् जानीयात् केवलात् कफात् ।

(लवण-सुरा-सान्द्रमेहादि
 लक्षणम् ।)

श्लेष्मण्यणुबले पित्ते ये मेहन्ति तु तान्कृण ॥
 लवणाम्बुनिभं मूलं विद्याल्लवणमेहिनः ।
 प्रमेहति तथा जन्तुसुरामेही सुराकृतिम् ॥
 मूलं सान्द्रं प्रसन्नं तु दृश्यते सान्द्रमेहिनः (१) ॥

(इति भेले निदाने षष्ठोऽध्यायः ।)

(श्लेष्मोन्मादः ।)

गौतानि भजते नित्यं पित्तोन्मादनिपीडितम् ॥
 यस्मदा श्लेष्मलो जंतुः श्लेष्मलं भजतेऽशनम् ।
 सेवते च दिवा स्वप्नं तस्य श्लेष्मा प्रवर्धते ॥
 स वृद्ध ऊर्ध्वं हृदयाद्गृहीत्वा धमनीर्दश ।
 रूध्वा चेतोवहं मार्गं संज्ञां भ्रंशयते ततः ॥
 स भ्रष्टसंज्ञः पुरुषः तानि तानि विचेष्टते ।
 गायन् नृत्यति चैकत्र हसत्यथ च रोदिति ॥
 एकत्रास्ते विना लोकं शि(शे)तेचापि जडो यथा ।
 जनं विषयते चापि श्लेष्मोन्मादो पुमानिह ॥

(सन्निपातोन्मादः ।)

यस्त्वेतत् सत्व(र्व)मश्नाति यथोक्तं दोषकोपनम् ।
 सन्निपातात्तथोन्मादं सर्वलिङ्गं स ऋच्छति ॥

(१) अत्रैकपदे सातकायां वृटितम् । तत्र षष्ठाध्याय शेषः सप्तमाध्याये कतिचन श्लोकाश्च गता
 इति संभाव्यते ।

स यथा धननाशेन मरणेन प्रियस्य वा ।
 अ(त)थ(त) चिन्तयति तस्य संज्ञा भ्रश्यति चिन्तया ॥
 दुःखे(न) संज्ञो(ज्ञा)भ्रष्टो हि प्रकृतिं पुन ऋच्छति ।
 स चिन्तयति यान् भावान् तानि विप्रलपत्यथ ।
 आगन्तुं प(क)ञ्च मं(तं) विद्यादित्युन्मादं शरीरिणाम् ॥
 सर्वानितान् विजानीयादुन्मादानचिकित्सितान् ।

(शरीरदोष-स्वभावः ।)

एवं शरीरजा दोषाः शरीरे पर्यवस्थिताः ॥
 शरीरमेव हिंसन्ति पावकः स्वमिवाश्रयम् ।

(उक्तदोषपरिहारोपायः ।)

स(न)हि सत्त्वानि हिंसन्ति न पिशाचा न राक्षसाः ॥
 देव(त)स्तथा धर्मशीला मध्यस्था मनुजान् प्रति ।
 वमनै रचनै र्युक्तो निरूपे(हैः) चानुवासनैः ॥
 न जातु दारुणान् रोगान् उन्मादान् प्राप्नुयान्नरः ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले निदाने सप्तमोऽध्यायः ॥

अथातोऽपस्मारनिदानं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(अपस्मारविभागः ।)

वातात्पित्तात्कफाच्चैव सन्निपातास्त(त्त)थैव च ।
 अपस्मारा भवन्तीह तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(वातापस्मारः ।)

यस्सदा वातलो जन्तुर्वातलं भजतेऽशनम् ।
 व्यायामं सेवते चाति तस्य वातः प्रकुप्यति ॥

स वृद्ध ऊर्ध्वं हृदयाद्गृहीत्वा धमनीर्दश ।
 रुध्वा चेतोवहं मार्गं संज्ञां भ्रंशयते ततः ॥
 स भ्रष्टसंज्ञः पतति दन्तान् कटकटायति ।
 उत्पा(त्फा)लयति नेत्रे च भ्रुवौ प्रक्षिपते तथा ॥
 स चेत् प्रत्यागतो ब्रूयात्तमसः परितो गतः ।
 प्रतिभाति च मे कृष्णा जगती खण्डशस्तथा ॥
 तदो(दो)र्ध्वमेवं हृदयं वायुर्वर्चीपधावति ।
 इत्येतैर्लक्षणैर्विद्यादपस्मारं तु वातजम् ॥

(पित्तापस्मारः ।)

यस्मादा पित्तलो जन्तुः पित्तलं भजतेऽशनम् ।
 अग्न्यातपे सेवते च तस्य पित्तं प्रवर्धते ॥
 तद्वृद्धमूर्ध्वं हृदयाद्गृहीत्वा धमनीर्दश ।
 रुध्वा चेतोवहं मार्गं संज्ञां भ्रंशयते ततः ॥
 स भ्रष्टसंज्ञः पतति दन्तान् कटकटायते ।
 उत्पा(त्फा)लयति नेत्रे च भ्रुवौ व्याक्षिपते तथा ॥
 स चेत् प्रत्यागतो ब्रूयात् तमसः परितो गतः ।
 (१) प्रतिभाति च मे शुक्ला जगती खण्डशस्तथा ॥
 तदोर्ध्वमेवं हृदयं कफो वर्चीपधावति ।
 इत्येतैर्लक्षणैर्विद्यादपस्मारं कफात्माकम् ॥

(१) प्रतिभाति च मे पीता जगती खण्डशस्तथा ।
 इत्येतैर्लक्षणैर्विद्यात् पित्तापस्मारकं बुधः ॥

(कफापस्मारः ।)

यस्मादा श्लेष्मलो जन्तुः श्लेष्मलं भजतेऽशनम् ।
सेवते तस्य श्लेष्मा प्रवर्धते ॥
 स वृद्ध ऊर्ध्वं हृदयात् गृहीत्वा धमनीर्दश ।
 रुध्वा चेतोवहं मार्गं संज्ञां भ्रंशयते ततः ॥
 स भ्रष्टसंज्ञः पतति दन्तान् कटकटायते ।
 स चेत् प्रत्यागतो ब्रूयात् तमसः परितो गतः ॥

(सन्निपातापस्मारः ।)

यस्त्वेतत्सर्वमश्नाति यथोक्तं दोषकोपनम् ।
 सन्निपातादपस्मारं सर्वलिङ्गं स ऋच्छति ॥
 एवं रसैति(रि)हापथ्यैर्विवृष्टेष्वनिलादिषु ।
 नापस्मारयते प्राणी न सत्त्वरूपहन्यते ॥
 यदा यदाऽभिवर्धन्ते दोषास्तः(ः प)र्वस्त्रिवोदधौन्(धिः) ।
 तदा तदाऽपस्मारति सैषः क्लिश्यति सन्ततम् ॥
 ज्वरस्य शोषगुल्मानां कासिनामथ कुष्ठिनाम् ।
 प्रमेहोन्मादिनां चैव तथाऽपस्मारिणामपि ॥
 इत्यष्टौ वै प्रदिष्टानि निदानानि शरीरिणाम् ।
 विमानानि प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले निदानेऽष्टमोऽध्यायः ॥

इति भेलसंहितायाम् निदानस्थानं समाप्तम् ।

अथ विमानस्थानम् ।

अथातो रसविमानं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(रसदोषाणां सहजा गुणदोषाः ।)

शरीरं धारयन्तीह षड्रसाः सम(स्य)दा(गा)(ट्ट)ताः ।
अतोऽन्यथा विकारास्तु जनयन्ति शरीरिणाम् ॥
रूक्षो लघुः स्निग्ध(स्थि)र त(र) कषायस्तित्त एव च ।
तीक्ष्णोष्णावस्त्रैलवणो कटुर्वापि विशोष्यथ ॥
शीतः स्निग्धो गुरुर्बल्यः पिक्विलो मधुरो रसः ।
कषायतित्तकटुकाः शीतो(त)रूक्षोऽनिलः स्मृतः ॥
रूक्षोष्णमस्त्रपित्तं तु कटुकं च प्रचक्षते ।
श्लेष्मा तु मधुरः स्निग्धः शीतमन्दः स्थिरो गुरुः ॥
इत्येतान् रसदोषाणां सहोत्पन्नान् गुणान् विदुः ।

(दोषसमानरसविवेचनम् ।)

तत्र वायुगुणैस्तुल्यान् कषायकटुतित्तकान् ।
कटुस्त्रलवणैस्तुल्यान् तथा पित्तगुणान् विदुः ॥
मधुरं लवणस्त्रौ च विद्यात् कफसमान् रसान् ।
तस्मादभ्यस्यमानैस्तैः श्लेष्मा देहि प्रवर्धते ॥
गुणसाम्यादिवर्धन्ते यथास्त्वं धातवो नृणाम् ।

(दोषोपशमनरसाः ।)

यत्रैकत्र कृतो(तैः)रा(ए)सि(भिः) द्वौ महत्वमिहर्क्षति(तः) ॥
रसेस्तद्विपरीतैश्च यान्धेते क्षयमाहृतैः ।
यथोदकं समासाद्य शान्तिं गच्छति पावकः ॥

कषायतिक्तकटुकै रूक्षैर्विवर्धते ।
 मारुतः स्निग्धभावं च ततोऽन्यैरुपशाम्यति ॥
 कटुस्त्वलवणैः पित्तं उष्णमुष्णैर्विवर्धते ।
 शान्त्या शाम्यति शेषैस्तु गुणानामप्यशेषतः ॥
 स्निग्धस्निग्धैः कफश्चापि वर्धते मधुरारि(दि)भिः ।
 रसैः शाम्यति रूक्षैश्च कषायकटुतिक्तकैः ॥
 एकैकमेकसामान्याद्वर्धयन्ति त्रयस्त्रयः ।
 घ्नन्ति चान्यगुणत्वेन रसदोषं शरीरिणाम् ॥

(दोषोपरोधिद्रवद्रव्याणि मांसादीनि च)

न वायुस्सह तैलेन स्नेहीष्णग्राह्यपलीयते ।
 शीतत्वान्मधुरत्वाच्च न पित्तं सह सर्पिषा ॥
 रौक्ष्यात् कषायभावाच्च तथा स्नेहगुणै ऋते ।
 न स्नेहा मधुना सार्धं देहे पर्यवतिष्ठति(ते) ॥
 आनूपमांसजावापि वसामज्जान एव च ।
 तैलवन्मारुतं घ्नन्ति स्नेहीष्णगुरुभावतः ॥
 काखा(का)द(रि)विष्किराणां च रसा मज्जान (ए)व च ।
 घृतवद्ध (घ्न)न्ति ते पित्तं (शीत)माधुर्यभावतः ॥
 कषायतिक्तकटुकं यच्च किञ्चिदिहोषधम् ।
 मधुरं तत् कफं हन्ति गुणास्य(न्य)त्वेन देहिनाम् ॥

(दोषोपरोधिभोज्यानि)

अथवाप्युपयुञ्जीत पिप्पलीं चारमेव च ।
 अत्याहता पचेद्देहं तीक्ष्णोष्णाकटुभावतः ॥
 लवणं चैव नष्टेतत् भुक्तं दोषाय कल्पते ।
 स्नेहाणं चावयित्वा तु नोत्सहेताऽपकर्षितुम् ॥
 पिप्पली पाकमधुरा तस्मात्तां नाति भक्षयेत् ॥
 चारं च लवणं चैव भोक्तुं नेयाति केवलम्(?) ।
 मात्रावदुष्णं स्निग्धं च सात्तं खादु च भोजनम् ॥

अविदाहि च यत्पाके जोर्णे तदुपयोजयेत् ।
 बलवर्णकरं स्निग्धं उष्णं श्लेष्मानिलापहम् ॥
 विदह्यते न मात्रा (?) च सात्व्यतां च करोत्यथ ।
 स्वादु पुष्टिकरं जन्तोरविदाहि प्रसादनम् ॥

(भोजननियमादिकं)

नृणामायुष्करं चैव जीर्णं भोजनमिष्यते ।
 न जल्पन्न हसंश्चापि न द्रुतं न विलम्बितम् ॥
 भुञ्जीताभ्या(त्या)दरस्त्रेहं देहे निर्वर्त(त्य)ते रसः ।
 यथेह वैद्युतो वह्निः प्रवर्तेत सुदारुणि ॥
 पच्यमाने तथा भुक्ते रसादिरुपचीयते ।

(समाग्निप्रशंसा)

जीवयन्ति नरं वर्षा हेमन्तः पाययत्यपि ॥
 ग्रीष्मः पचति चाप्येनं परिणाम इवापरः ।
 शृशमीष्णप्रात् कटुर्ग्रीष्मः सर्वधातुविशोषणः ॥
 दैन्यास्थैर्यकरं शीतं वर्षामद्यव । (१)

(इति भेले विमाने प्रथमोऽध्यायः ।)

(इति भेले विमाने द्वितीयोऽध्यायः ।)

(१) अतैकपत्रं साटकायां तुटितम् । तत्र प्रथमाध्यायशेषः द्वितीयाध्यायः तृतीयाध्याये कतिचन श्लोकाश्च गता इति संभाव्यते ।

(दुर्बलाग्निः)

यस्य भुक्तं विपच्यते ।

भुञ्जानस्यापिचान्नानि बलं वर्णश्च हीयते ।
अल्पं लब्धपि यच्चान्नं भुक्तं दुःखेन जा(जी)र्यति ॥
नाप्नोति बलवर्णं च दुर्बलाग्निस्स उच्यते ।

(विषमाग्निः ।)

कदाचित् पच्यते भुक्तं कदाचिन्न विपच्यते ।
गुरु वा लघु वा यस्य विषमाग्निस्स उच्यते ॥

(समाग्निः)

मितं पच्येत यस्यान्नमतिभुक्तस्य(स्स) उच्यते ।
समाग्निं तं नरं विद्यात् समपित्तकफानिलम् ॥

(मन्दाग्निः)

नरो भवति तौक्ष्णाग्निः प्रकृत्या वातपैत्तिकः ।
वातिको विषमाग्निश्च मन्दाग्निश्च कफान्नरः ॥
यस्य हीनाधिकस्त्वग्निः क्षिप्रं देहे स मुञ्चति ।
समाग्निश्च समात्मा यः स दीर्घायुस्त्वगृच्छति ॥

(अत्यग्निप्रतिभोजनम्)

गव्यमाहिष वाराहै (:) कुलीरैर्मत्स्यकर्कटैः ।
मांसैस्सफलकैस्त्रिग्वैरत्यग्निं प्रतिभोजयेत् ॥
गोधानिष्कृथिते क्षीरे स्निग्धं भुञ्जीत पायसम् ।
पिवेद्दधिं ससर्पिष्कं माषसूपेन मिश्रितम् ॥
तथा पललसन्मिश्रं कच्छपाण्डरसं पिवेत् ।
गुडं च तैलसन्मिश्रं कुर्यादन्यच्च तद्विधम् ॥

(विषमाग्निचिकित्सा)

स्निग्धस्य विषमाग्ने तु (ग्नेऽस्तु) वमनादीनि कारयेत् ।
ग्रहणी दूषिणीं यन्तु मन्दाग्नि(ग्ने)स्तु चिकित्सितम् (?) ॥

(भेषजभोज्यविभागद्वयवस्था च)

अन्तरौषधपानानि बहिर्देहे च या क्रिया ।
शस्त्रकर्मविधानं च भेषजं त्रिविधं स्मृतम् ॥
मधुरोऽस्त्रः कटुश्चैव भ(प)क्तिमार्गास्त्रयः स्मृताः ।
कटुर्भवति पक्तस्य दस्य(पच्य)मानस्य चेतरो ॥

(वातादिविकारशमनविरेचनादिकम् ।)

इहान्नपानं भोज्यं च मधुरास्त्रं प्रचक्षते ।
वातलेषु विकारिषु यदा हितै(वा)(तो) न शाम्यति ॥
दद्यात्तदास्त्रैः स्निग्धाय भिषक् स्नेहविरेचनम् ।
वस्तिभिर्वा चिकित्सेता(थाः) अधोभागे च मारुतः(म्) ॥
तथाच तित्तमधुरं पानमन्नं प्रदापयेत् ।
पैत्तिकेषु विकारिषु यदि वा(पि)तं(त्तं) न शाम्यति ॥
तस्य स्निग्धस्य वमनं शिरसश्च विरेचनम् ।
कुर्याद्यथाबलं श्लेष्मा ह्यर्ध्वभागः प्रकीर्तितः ॥

(समानिलक्षणम् ।)

शक्नन्मूत्रानिलाश्चैव रक्तमांसादयश्च षट् ।
विद्यान्निबन्धनानीति तानि देहेषु देहिनाम् ॥
बलं वयश्शरीरं च प्रत्येकं त्रिविधं स्मृतम् ।
उत्तमाधममध्यं तु भेदेनाथ निशामयेत् ॥
आहारश्च विहारश्च सेव्यमानौ क्रमेण तु ।
कालेन प्रकृ(त्)तं यातस्तदाहुस्साम्यलक्षणम् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले विमाने तृतीयोऽध्यायः ॥

अथातो रोगप्रकृतिविनिश्चयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(व्याधितपरीक्षाक्रमः ।)

प्रमृश्य दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च परीक्षेतातुरं भिषक् ।
 पूर्वं तु रोगविज्ञानं ततः पश्चाच्चिकित्सितम् ॥
 रूपं क्वायामुपचयं प्राग् व्याधिव्याधितस्य च ।
 दृष्ट्वा भिषक् परीक्षेत प्राक्तनं वैक्तनं तथा ॥
 ज्वरस्य साम्यं वैषम्यं गात्रं वा श्लक्ष्णकर्कशम् ।
 दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽवगच्छेद्वि शैत्यमौषणं च पाणिना ॥
 मातापितृसमाचारं सात्त्विकं गर्भेण दीहृदम् ।
 व्याधिकालपरीणामं शक्नूच्चविवर्णताम् ॥
 पूर्वरूपसमुत्थानां शरीराग्निवयोबलम् ।
 प्रकृतिं जन्मदेहि च भोजनं च यथोचितम् ॥
 व्यायामति(नि)ष्ठामात्म्यं च मात्रा(ऽ)मात्रा(त्वे) च भोजने ।
 प्रश्रोक्तानि विजानीयाद्यथान्यदपि तद्विधम् ॥
 केचरि(दि)च्छन्ति मुनयो दोषमेकमिहाधिकम् ।
 विकारस्याविशिष्टत्वादनष्टं कारणं च यत् ॥

(वातप्रकृतिः ।)

जष्मासहो नरो यस्तु स वातप्रकृतिः स्मृतः ।

(पित्तकफप्रकृतिः ।)

पैत्तिकोऽम्बुसहस्रापि मधुरान्नसहः कफात् ॥
 स्वभावप्रभवो ह्येष सहोत्पन्नो गुणागमः ।

(वातादिप्रकृतिपुरुषोत्पत्तिः ।)

प्रकृतिं वै विजानीयात् तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
 अव्यक्तं च मह्यंश्चैव महाभूतानि पञ्च च ।
 पराः प्रकृतयः सप्त स्वभावः काल एव च ॥

ताभ्यां भवन्ति भूतानि तान्येव प्रतियान्ति च ।
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च बुद्ध्यपवसाः(स्तद्गुणा)स्तथा ॥
 ऋतुकाले यदा नारी रूक्षस्थन्यानि सेवते ।
 उदावर्ते तथापीह कर्म चातिनिषेवते ॥
 तदेनं(दै)(तत्) वातसं-(दु)षं(ष्टं) रक्तं गर्भाशयस्थितम् ।
 तद्विधैनैव शुक्लेन यथा योगमुपैति वै ॥
 तदा वातप्रदुष्टेन शुक्लेन रुधिरिण च ।
 वातप्रकृतितामेति गर्भात् प्रागात्मनस्स वै ॥
 एवमेवर्तुकाले वै भजन्या कफपैत्तिकम् ।
 श्लैष्मकी पैत्तिकी वापि प्रकृतिर्जायते ततः ॥

(वातप्रकृतिलक्षणम् ।)

ऋक्षः शीघ्रः कृशश्चा(स्था)णः प्रलापिपुरुषप्रियः ।
 स्निग्धाङ्गो विषमश्चिष्टो गणरूपो गणेधृतिः (?) ॥
 सह(ः) क्लेशस्य विस्त्रम्भी रूक्षत्वगनवस्थितः ।
 खरमूर्ध्वजरोमाङ्गः क्षिप्रग्राही तथा स्मृतः ॥
 स्वप्नेषु चोद्रेणायाति वियत्यपितु गच्छति ।
 यस्यो(श्चो)पशते सुस्निग्धं स वातप्रकृतिर्नरः ॥

(पित्तप्रकृतिलक्षणम् ।)

शिथिलाङ्गो ऽगरूगन्धश्चण्डः शीघ्रो महाशनः ।
 वलीवलितखालित्यः शीघ्रवाकी तथाऽक्षमः ॥
 वृत्ताक्षो(ः) रो(क्रो)धनो यस्य(श्च) दुर्बलो दुर्बलेन्द्रियः ।
 नान्नाशः क्षि(श्च)तशीताशी दुष्प्रजा(ः) शीतलप्रियः ॥
 अतिवर्णोऽतिमेधावी स्वप्ने पावकदृक् तथा ।
 शीघ्रमायाति यः स्नातः पैत्तिकप्रकृतिर्नरः ॥

(श्लेष्मप्रकृतिलक्षणम् ।)

सुस्निग्धः श्लक्ष्णवद्भाङ्गः सुभगः प्रियदर्शनः ।
 दृष्टस्मृतिश्चिरग्राही दृढभक्तिपरायणः ॥

प्रीयमाणोष्णमधुरः प्रिययोषित् बहुप्रदः ।
 क्षमावान् बलवान् धन्यः शीतांशुरशनप्रियः ॥
 चिराट्(द्रू)ढव्याधिरथो मितवागल्पभुक् स्मृतः ।
 दीर्घदर्शी महोत्साहो धीरः श्लेशसहस्तथा ॥
 रोमदन्तनखैः केशैः बहुलैर्यः सुबन्धनैः ।
 चिरादापतति स्नातः स्वप्ने पश्यति चोदकम् ॥
 यस्तु रुद्धं तु सहते स श्लेषप्रकृतिर्नरः ।

(संसृष्टप्रकृतिलक्षणम् ।)

संसृष्टप्रकृतिं विद्यात् संसृष्टैश्चापि लक्षणैः ॥
 निवृत्तप्रकृतिर्धस्या(न्या) इन्हा भवति मध्यमा ।
 सन्निपातात्मिका या तु जघन्या सा प्रकीर्तिता ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले विमाने चतुर्थीऽध्यायः ॥

अथातो व्याधितरूपीयं व्याख्यास्याम इति

इत्याह भगवानात्रेयः ।

(गुरुव्याधिलक्षणम् ।)

गुरुर्व्या(व्या)धिर्नरः कश्चिन् मूर्च्छां चैव बलेन च ।
 लघुर्व्या(व्या)धिर्नरस्त्वन्यः सत्त्वादिभिरनन्वितः ॥
 गुरुव्याधिरिवाभाति भिषक् तत्र प्रमुह्यति ।
 तत्राल्पमात्रं भषज्यं सेवितं गुरुरोगिणाम् ॥
 न निर्दहत्यतस्सर्वान् दोषानल्पेन तेजसा ।
 मूर्च्छां हृदिः स्तिमितवा(ता) जृम्भा च गुरुगात्रता ॥
 क्ल(ढ)णा सन्नतभावश्च भवन्त्येतानि तस्य तु ।

(सुस्ताद्यास्थापनम् ।)

सुस्ता कुष्ठं हरिद्रे द्वे प्रग्रहातिविषाऽभया ॥
 भल्लातकं वयस्था च चित्रकस्मुरदारु च ।
 एतैरास्थापनं तच्च कुर्यान्नोमूत्रसंयुतैः ॥
 पूर्णा(गुणान्)दि(ट्ट)ष्टानवि(ट्ट)ष्टांश्च तथा शान्तिं नियच्छति ।

(आरग्वधाद्यास्थापनम् ।)

आरग्वधं सप्तवर्णं मदनं स्वादुकण्टकम् ॥
 शार्ङ्गिष्ठां कटुकां पाठां नक्तमालं सवत्सकम् ।
 एतदारग्वधाद्यं तु कुर्यादास्थापनं भिषक् ॥

(इति भेले विमाने पञ्चमोऽध्यायः ।)

(इति भेले विमाने षष्ठोऽध्यायः ।)

(इति भेले विमाने सप्तमोऽध्यायः ।)

ऋतुविमानं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(ग्रीष्मर्तुविमानम् ।)

आदित्यगतिवैशिष्ट्यादृतूनां परिवर्तनात् ।
 क्षयं वृद्धिं च गच्छन्ति यथास्वं धातवो नृणाम् ॥
 भूमिबाष्पात् पुरोवातात् पुनश्चायाऽसङ्गतः ।
 महीकलुषसन्दुष्टात् पीयमानान्नबोदकात् ॥
 ग्रैष्मिकात् क्षशभावाच्च प्राणे दुर्बलतां गते ।

(वर्षर्तुविमानम् ।)

वर्षासु देहिनामग्निर्मृदुत्वमुपगच्छति ॥
ततो विष्टम्भजो वायुर्यस्माद्धी(च्छी)तो(म्)प्रकुप्यति ।
तन्न सेवेत वर्षासु कटुस्तलवणान् रसान् ॥
मुद्गयूषेण वाऽश्लीयात् पुराणान् शालिषष्टिकान् ।
अथवा यवगोधूमं(म) सृ(पि)ष्ट(ष्टं)वाते हितं स्मृतम् ॥
पटोलानि च तक्रं च जाङ्गलान्श्च रसान् लघून् ।
कौपं दिव्यं जलं सिन्धोः भजिह्वे(ह्वै)हायसानि च ॥
असंस्थितत्वाद्वर्षासु जलमल्पं विपच्यते ।
तस्माद्विवर्धते पित्तं यथाऽन्लैश्च तथाऽशनैः ॥

(शरदृतुविमानम् ।)

सूर्योपतापात् सहसा गत्वा चैवोपधीकृतम् (?) ।
वर्षासु निश्चितं पित्तं कोपं शरदि गच्छति ॥
स्नानानुलेपनं तस्मात् शीतं शरदि कारयेत् ।
बीजयेत्ताळवृन्तैश्च विगाहेत्तु सरस्सु च ॥
लाजसक्तं पिबेच्चापि शर्करामधुवारिभिः ।
मुद्गयूषेण चाश्लीयात् पुराणान् शालिषष्टिकान् ॥
रसान् मधुरकांश्चापि जाङ्गलान् सर्पिषा क्ल(ष्ट)तान् ।
विदारौक्षुरसं द्राक्षां सेव्येतान्यच्च तद्विधम् ॥
गतपित्तप्रवेगश्च शरत्काले घृतं पिबेत् ।

(हेमन्तर्तुविमानम् ।)

तथास्याप्यायते देहः शो(शे)षा दोषाश्च यान्त्यधः ॥
पञ्चाद्वातस्य(स्व) रूपत्वात् शीतळत्वादृशो(तो)स्तथा ।
हेमन्ते नातिगच्छन्ति खरत्वं धातवो नृणाम् ॥
तस्मात् स्नेहं बहुविधं स्नानं चोष्णेन वारिणा ।
भजिह्वे खरत्वपारुष्ये तथाऽभ्यङ्गात् प्रशाम्यति ॥

शकुनानौदकान्मत्स्यान् स्नेहान्मलवणान्वितान् ।
 आनूपानि च मांसानि सेवेतान्यच्च तद्विधम् ॥
 कटुहि(र्हि)न्य(प)श्चिमो वायुः शैत्यं तीव्रं च वारिणाम् ।
 अत्यर्थं रुक्षयेद्वायुः शरीरं रुक्षभोजनात् ॥
 गुरुप्रावरणञ्च स्यादातपाग्नी च संश्रयेत् ।
 रुक्षो हि तेजसां जन्तोः शरीराद्धरते बलम् ॥
 आपो हि वारे(त) मधुरा हेमन्ते तु भवन्त्यथ ।
 तस्मात् कफस्तथा तामिः स्निग्धैरन्नैश्च चीयते ॥

(शिशिरर्तुविमानम् ।)

शीतळत्वादृतोश्चापि न तावत् परिभियते ।
 तस्माच्चैलशुद्धोपेतां वारुणीं शिशिरे पिबेत् ॥
 विविधानि च मांसानि भक्षयेच्च प्रकारतः ।
 एवं तु निचितः श्लेष्मा शीतत्वादिह देहिनाम् ॥
 द्रावतामेति संस्पृष्टो वसन्ते सूर्यतेजसा ।
 रविर्हि मध्यमां काष्ठां वसन्ते प्रतिपद्यते ॥
 दह्यता(ग्धाना)मिव शैलानां नृणामङ्गं प्रसिच्यते ।
 ततः श्लेष्मा द्रवीभूतो हृदयं व्यपालंपति ॥
 तस्माच्छुर्दिविपाकश्च दृश्यते शिशिरात्यये ।
 तन्नाद्वसन्ते श्लेष्मघ्नमघुमाध्वि (१) ॥

(इति भेले विमानेऽष्टमोऽध्यायः ।)

इति भेलसंहितायां विमानस्थानं समाप्तम् ॥

(१) अत्र मातृकायां ४६तम पत्रं एकं वृटितम् । तत्राष्टमाध्यायशेषः शरीरे प्रथमाध्यायः
 द्वितीयध्याये कतिचन श्लोकाश्च गता इति संभाव्यते । अत्र सूत्रस्थाने विंशदध्यायाः, निदाने विमाने च
 प्रत्येकमष्टाध्याया इति २८ तम पृष्ठगतविभागोऽपि समालोचनीयः ।

अथ शारीरस्थानम् ।

(इति भेले शारीरे प्रथमोऽध्यायः ।)

.....मानोऽवतिष्ठते ॥

(वयःक्रमेण शुक्लादिवृद्धि
क्षयनिरूपणम् ।)

जातस्य दशमे मासे नामगोत्रे नमः(सुसं)स्कृते ।
व(त)रुणस्य कुमारस्य वर्धमानेषु धातुषु ॥
अस्थिमज्जसु पूर्णेषु शुक्लं न प्रतिपद्यते ।
अङ्गाङ्गेषु सुवृद्धेषु प्रतिमूलेषु धातुषु ॥
शुक्लं च षोडशे वर्षे सुव्यक्तं प्रतिपद्यते ।
तथा वृद्धस्य जन्तोस्तु परिक्षीणेषु धातुषु ॥
विवेका न यथा पूर्वं विविच्यन्ते परिक्षयात् ।
ततोऽल्परेता भवति सुजीर्णी दुर्बलोऽथवा ॥
न पश्यति नरः शुक्लं सर्वधातुपरिक्षयात् ।
रक्तं मांसं च(व)सास्थीनि मज्जा शुक्लं तथाऽनिलः ॥
शक्लन्मूत्रे च तैर्मन्दं विद्यान्नवतितः परम् ।

(वन्ध्यात्वनिमित्तं

रेचनादिकं च ।)

इह नर्हति गर्भं स्त्री वातेनोपहता तथा ॥
या(यो)निदोषेण चान्नेन न हि वन्ध्याऽस्ति ना (का)चन ।
वमनं रेचनं चैव वस्तिरा(मा)स्थापनं तथा ॥
तस्मात्तत् कारयेत् स्त्रीणां प्रसिद्धाः प्रसर(व)न्ति वै ।

(इन्द्रियाणां प्रतिनियतस्वभाववर्णनम् ।)

अथात्र भवति प्रश्नः कफाच्छुर्नि न(च) नासया ॥
 गृह्णीष्वास्थेन वा गन्धं तुल्यं सर्वत्र खं यदि ।
 त्वज्ञा(गभा)गे च समे कस्मान्न गृह्णात्यन्यथा रसम् ॥
 इति तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पुनर्वसुः ।
 घ्राणं गन्धं च भौमं हि रूक्षं(पं) चक्षुश्च तैजसम् ॥
 संस्पर्शं स्पर्शनं वायोः श्रोत्रं शब्दात्मकं तथा ।
 रसनं च रसा व्या(सं)(ज्ञाप्यं) तस्मादेतैरिहेन्द्रियैः ॥
 यथास्वं तुल्ययोगित्वाद्विषयग्रहणं स्मृतम् ।
 स्वं स्वं हि विषयं धातु विजानात्यात्मनाऽन्वितः ॥
 आत्मेन्द्रियमनोर्थानां बन्धश्चेति समादिश ।

(इति भेले शरीरे द्वितीयोऽध्यायः ।)

इत्याह भगवानात्रेयः ।

अथातोऽसमानगोत्रीयं शरीरं व्याख्यास्याम इति

इत्याह भगवानात्रेयः ।

(गर्भधारणादिक्रमः ।)

इहासमानगोत्रां वै ऋतुस्नातां स्त्रियं व्रजेत् ।
 मेधादि(वि)नमरोगं सा पुत्रमेवं प्रसूयते ॥
 बीजदोषाद्यथा सस्यं न सम्यग्विप्ररोहणी(ति) ।
 मातापित्रोस्तु दोषेण तथा गर्भः प्रय(ग)च्छति ॥
 तस्मात् सम्यग्रसाहारादृतुकालेऽथ दम्पती ।
 रहस्ययोगमेयातां स्मरन्ती मनसा विभुम् ॥
 विवृता (:) स्युर्गर्भा वै रसापथ्यनिषेवणे ।
 सन्धारणाद्वा वेगानां योनिदोषेण वा पुनः ॥

योनौ दोषोपष्टब्धायां स(न) गर्भोऽञ्जवतिष्ठते ।
 तथैव बाह्ययोनी हे निर्वी(र्दी)हि(षि)न्या(ण्यां) च सर्वदा ॥
 गृह्णाति वायुर्यस्यां च योनौ शुक्रमुपागतः ।
 बिभर्ति गर्भिणी गर्भं शुद्धार्तवसमन्विता ॥
 च्यवते च यथाचाऽसौ तथा गर्भः प्रणश्यति ।
 वातोदरं स्त्रियास्तद्वै तस्माद्रूपा(क्षा)णि वर्जयेत् ॥

(पुंस्त्रीनपुंसकयमलबहु
 गर्भनिमित्तम् ।)

भवत्यभ्यधिके शुक्ले पुरुषः, शोणितेऽङ्गना ।
 नपुंसकं तु(त) योस्मास्ये तस्म(ऽ)च्छुक्लं विवर्धयेत् ॥
 यदा तु कललं वायु(ः) तद्वि(ह्व)धा कुरुते बली ।
 यमौ तदौ संभवतः कृष्णात्रेयवचो यथा ॥
 तत्र शुक्लोत्तरे भागे पुमान्, रक्तोत्तरेऽङ्गना ।
 अनेनैव च कल्पेन यमकेष्वपि निर्दिशेत् ॥
 वायुस्त्वध्ववराहाणां देहेषु बलवान् पुनः ।
 स तत्र कललं भित्वा करोति बहुपुत्रताम् ॥

(गर्भासंपूर्णतादिनिमित्तम्
 तत्परिहारश्च ।)

नाप्नोति च यथा गर्भो रसं दुष्टैः शिरामुखैः ।
 असंपूर्णो(ऽ)व(र) सं(सो) नागः तथा वर्षाणि तिष्ठति ॥
 संपूर्णगात्रो भवति यथा सरसभावितः ।
 तथा प्रसौत्यथाकाशं(लं) गर्भः स्त्रीकुक्षिविच्युतः ॥
 ये च ते विंशतिः प्रोक्ता योनिदोषा(ः)चिकित्सिते ।
 एतैश्चान्यैश्च बहुभिः गर्भो व्यापद्यते स्त्रियाः ॥
 तस्मादेतान् चिकित्सेत्तु दोषान् पुत्रचिकीर्षया ।
 इभश्चागर्भं सारूप्यं(प्य) प्रयोगाद्भि भवेच्छुचिः ॥
 वाय्वाकाशतुयुक्तो हि दैवतेष्वितरेषु तु ।
 अन्तर्जातो जातवेदाः प्रभवायोपकल्पते ॥

(सात्त्विकादिगर्भ
निमित्तम् ।)

ऋतौ यथा स्त्रीपुरुषौ प्रसन्नमनसौ रहः ।
उपेयातामथ तदा गर्भो भवति सात्त्विकः ॥
ऋतौ यथा स्त्रीपुरुषौ व्यायस्तमनसौ भृशम् ।
उपेयातामथ तदा गर्भो भवति राजसः ॥
ऋतौ यथा स्त्रीपुरुषौ प्रदीनमनसौ रहः ।
उपेयातामथ तदा गर्भो भवति तामसः ॥
लक्षणं च समु(मु)त्था(स्ता)नु(नां) इत्येतत् समुदाहृतम् ।
तिसृणां सत्त्वयोनीनां मित्रा(त्थं)न्ते(ति)नैर(व) लक्षयेत् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

(इति भेले शरीरे तृतीयोऽध्यायः ।)

अथातः पुरुषनिचयं व्याख्यास्याम इति

हस्माह भगवानात्रेयः ।

(जाठराग्निस्वरूप
विवेचनम् ।)

इह खलु भोजयन्ना(यो)पुरुषो भवति र(स)जन्मानोऽस्य व्याधयो भवन्ति ।
तद्यथा खल्वयं पुरुषो रसजन्मा रसजीवी रसज्वलनो रससमाधिको
रसजीवनश्च भवति । रसानामसम्यगुपयोगान्मिथ्योपयोगात्(च) तद्विकारा-
नृच्छति । न कश्चिन्मिथ्योपयोगात् अजीर्णापथ्यभोजनात् स्वस्थो भवति ।
अथात्र प्रश्नो भवति कोऽत्र खल्वस्याहारं पचति, वातः पित्तं श्लेष्मा-
ऽनुपानं वेति ? नेत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः । यद्येते पाकहेतवः स्युः
तर्हि नहि कश्चिदिह दुर्बलाग्निः स्यात् ; वातादीनां सन्निहितत्वात्,
सानुपानत्वाच्च । अथास्योष्मा तेजश्च शरीरस्थमहारं पचतः ते(तर्हि स)
कायाग्ने(ग्नि)रिति विद्यात् ।

(अलोचकादिस्वरूपप्रश्नः ।)

तत्र भेल आनेयमिदमुवाच—भगवन् पञ्चधा ये शरीराः(ः) पठ्यन्ते—
अलोचकराजकभ्राजकसाधकं वा(पा)चकभेदेन, तेषां कथमिदं पञ्चाभि-
धायिनां पृथक्त्वं भवतीति ।

(अलोचकविभागः चक्षुर्वैशेषिकस्वरूपविवेचनं च ॥)

अत्रोवाच भगवानात्रेयः । तत्रालोचको नाम वर्षाशोतातपप्रवृद्धः ।
स द्विविधः—चक्षुर्वैशेषिको बुद्धिवैशेषिकश्चेति । तत्र चक्षुर्वैशेषिको नाम
य आत्ममनसोऽस्त्रिकर्ष (तत्)ज्ञानमुदीरयित्वा चित्ते चित्तमप्याधाय संस्तेद-
जाण्डजोद्भिज्जजरायुजानां चतुर्णां भूतग्रामाणां लक्षणसंस्थानरूपवर्ण-
स्वरैरुच्चावचानां पुष्पफलपत्राणां रूपनिवृत्त्यर्थमेकैकं(स्य)द्वौ(द्वयो) पात्र-
(र्ह)यो(ः) सर्वेषां वा युगपत्प्रणिपतितानां चक्षुषा वैष(शे)म्य(थ)मुत्पा-
दयतीति ।

(बुद्धिवैशेषिकस्वरूपम् ।)

बुद्धिवैशेषिको नाम यो भ्रुवोर्मध्ये शृङ्गाटकस्थः सुसूक्ष्मानयान(ध्य)-
ात्मकतान् गृह्णाति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युदाहरति, अतीतं स्मरति,
प्रत्युत्पन्नं कृत्वाऽनागतं प्रार्थयति, जातमात्रश्च पुनरनुपदिष्टस्वभावं(ः)मातु(ः)
स्तस्य(न्य)मभिज्ञवति, ध्याने प्रत्याहारे योजनाच्च बुद्धिवैशेष्यमुत्पादयतीति ।

(भ्राजकस्वरूपम् ।)

तत्र भ्राजको नाम यो यस्य शरीरं लक्षणं चोपगमयति प्राधान्यं
प्रदर्शयति, शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरजङ्घाम्य(स्य)नखनयनकेशानां च
प्रतिभावद्विविशेषानुत्पादयति, भ्राजयतीति भ्राजकः ।

(राजकस्वरूपम् ।)

प्रभविष्णुत्वे (स्ते)न्द्रियप्रावल्यात्, बुध्यवस्थाहंकारिण वाभिमतमर्थमर्थेभ्य-
आत्मकतमाधत्ते, चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनवाक्पाणिपादपायूपस्थेभ्यः सर्वेषां
विषयार्थानां स्वभावप्रवृत्तानां स्वभावोपरक्तानां परस्परैर्भ्यो रागमुत्पादयतीति,
अन्तर्मध्ये च पित्तस्थानमन्तरं प्रविश्य रागं जनयतीति राजकः ।

(साधकस्वरूपम् ।)

साधको नाम या(यः) शब्दस्पर्शगन्धेभ्योऽर्थकामेभ्यश्च देवपितृ ऋषिभ्यश्च
इहचामुत्रकानां च पदार्थानां निश्चेयसमधिकृत्य सर्वपदार्थानां(ना)नो(प्रो)ति
स्वयुक्त्या साधयतीति साधकः ।

(पाचकस्वरूपम् ।)

वा(पा)चको नाम असि(शि)त पीतं(ली)ढ खादितमाहारजातं जातवीर्यं
(पा)चयतीति वा(पा)चकः । यः स्वकं काममेवाग्निं प्रपूरयति हर्षयति ।

(जाठराग्निस्थानयोग्यतादिवर्णनम् ।)

भवन्ति चात्र—योऽयं निर्दहति क्षिप्रं आहारं सर्वदेहिनाम् ।

अपानमद्य(ध्य)निद(ध)नः कायाग्निः प(स्स)रिप(स)(मी)र्यते ॥

प्रभावलक्ष्यसंयुक्तो जीवस्येह सनातनः ।

नाभिमध्ये शरीरस्य विज्ञेयं सोममण्डलम् ॥

सोममण्डलमध्यस्थं विद्याद्यात्तत् सूर्यमण्डलम् ।

प्रदीपवच्चापि नृणां तस्य मध्ये हुताशनः ॥

देहिना भोजनं भुक्तं नानाव्यञ्जनसंस्कृतम् ।

सूर्यो दिवि यथा तिष्ठन् तेजोयुक्तो गभस्तिभिः ॥

विशेषयति सर्वाणि पल्वलानि प(स)यां(रां)सि च ।

तद्वच्छरीरिणां भुक्तं जाठरो नाभिसंस्थितः ॥

मयूखैः क्षिप्रमादत्ते सूर्यकान्तो मणिर्यथा ।

क्षिप्रं सम्यक् प्रदहति गोमयं कोष्ठमेव च ॥

(जाठराग्निपरिमाणम् ।)

स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रप्रमाणतः ।

ऋक्षकायेषु सत्त्वेषु त्रुटिमात्रप्रमाणतः ॥

क्रिमिकीटपतङ्गेषु वायुमात्रोऽवतिष्ठति ।

(कायाग्निचिकित्सा ।)

यस्तं चिकित्सेत्सि(दु)ष्टं(थ) तं(न्तं) व्याधिनाचा(शा)पि(य)
देहिनाम् ॥

आयुर्वेदाभियोगिन स वै कायचिकित्सकः ।
 रसं च शोणितं चैव मेदो मांसमथापि च ॥
 म(द)हृत्यनशने नृणां सर्वाण्येतानि खादति ।
 अग्नीषोमात्मकं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥
 आग्नीषोमात्मिकाः सर्वे देहिनस्तु चतुर्विधाः ।
 सूर्यात्मकानि चा(सा)न्द्राणि तथा सोमात्मकानि च ॥
 म(द)हृत्यनशने नृणां ते(न)ना(सा)न्द्राणि खादति ।
 जाठरो जलसंभूतः पावकः पवनैस्सह ॥
 प्रदीप्यतां(ति) नृणां कोष्ठे स(श)ति(क्ल) वे(दे)धनपूरितः ।
 इच्छाकु शो(को)क(श)मास्थाय (य)था दीपःस्थिरेऽभ्सि ॥
 तिष्ठति(ति) ति(स्ति)मिरे(ति) सक्तो न तथा चलितेऽभ्सि ।
 एवं शरीरिणां कोष्ठे(वि) कृते न(च)पुनः पुनः ॥
 अग्निर्वैषम्यमाप्नोति पूर्यमाणः पुनः पुनः ।
 स च यत्नेन वै रक्ष्यो विपन्नो दोषदर्शनात् ।
 द्वि(जी)र्यते चातिसार्येत विकारं चायमृच्छति ॥

श्वाससंप्राप्तकालो यः एवं म्रियते । वर्षशतं हि पुरुषायुस्तच्चावास्तुं
 जीर्णलघुपथ्यभोजनानुवर्तिना भवितव्यमिति ।

(सद्योऽलसकादिनिमित्तम् ।)

तत्राह कस्मादलसकः विषूचिका व(र)सा(स)द्य ये(ए)वागवि(दो)भवति?
 कश्चित् म्रियत इति ? अत्राह रूक्षस्या(ध्य)शनेनोत्प(त्पी)ति(डिता)वातपित्त
 श्लेष्माणि(ण) ऊर्ध्वमतो(धो) वा नानुलोमा भवन्ति, उहृत्तैः तत्र तैः
 सद्य एव म्रियते । स्निग्धस्याध्य(त्य)शनेनोत्पीडिता वातादयः ऊर्ध्वमधो
 वा अनुलोमात् स्वान् ग(र)सांस्तु प्रपद्यन्ते । तत्र तैस्सद्य एवागदि(दो)
 भवति ।

(सिरासंख्यामुखादीनि ।)

अथ दशान्तरगुहं(हाः) दश बहिर्गुणा(हाश्च) । तद्यथा—द्विचक्षुषि(षी)(२)
 द्विनासिके(४)कण्ठनाभि(भी)(६)गुद स्नेहवा(पा)युस्त्रोतांसीति (१०)अन्त-
 र्गुहा दश मन्या हृदयं निबद्ध(र) भवन्ति, ताः(तत्) प्रभवं चतुरङ्गुलमात्रं

गत्वा विंशतिर्भवन्ति । एवमेता दश मन्यः (ऽ) षष्टिर्भवन्ति । तत्र (त्र)-
भवन्तु त्रीणि त्रीणि शतसहस्राणि षष्टयंशा (धि) लि (का) नि सिराणां ।
तद्यथा वृक्षः शाखावृ (वृ) तप (प) लाशे (शै) रवतर (त) : तद्यथा स (प) र्वत-
(तो) वा ऽश्मभिरवतर (त) : (त) (था) यं पुरुषः सिराभिरवततः । रोमकूपे
ह्यस्य सिरामुखं भवति, यत (ः) स्वेत (दः) क्षरति ।

(अपस्मारनिमित्तग्रन्थोत्तरे ।)

तत्राह कस्मादयं पुरुषो न सन्ततमपस्मरतीति ? अत्रोच्यते, यथा
सरितां प्रादुर्भावे वारिजानि सत्त्वानि प्रादुर्भवन्ति, ऋ (ऽ) से वा ऋसन्ति,
तथा रसानां प्रादुर्भावे वातपित्तश्लेष्माणः प्रादुर्भवन्ति ऋसे ऋसन्ति
यदा यदा रसवेगं प्राप्नुवन्ति तदा तदा अपस्मारयन्ति, तस्माद्वाहाक्ष-
हात्यक्षान्मांसान्तराच्च अपस्मरन्ते (न्ति) ।

(अपस्मारस्य रक्षोवेतलादिनिमित्तत्वनिरासः ।)

के चिद्रक्षोऽपहत इत्याहुः । तच्चायुक्तम्, यदि ह्येवं स्यात् दृश्येरन्
पुरुषशरीरे प्रहाराति (दि) निवा (पा) (ता) : , तच्च नैवम् । वेतालभूत इति
चेत्, तच्चाप्यनुपपन्नम् । पुण्यानि ह्येषां वानां (सां) सि ध्या (जा) यन्त्ये (न्ते) यदि
चैवं स्याद्युगपदभिघातं प्राप्नुयुः । अनेकस्त्रीपुरुषवह्नानि तेषां बंदा-
(बन्धना) नि चैवं कदाचिद्भवति (न्ति) । तस्मात् तदेव (ऽ) पठ्यं (थं) रसोपहत-
मिति चेत्, एवमेव । रसप्रविवेक काले तृतीयकवतुर्थका ववद्यस्यते (?) ।
ज्वरावपि नेषत्रां ह्यननार्थः (?) ।

(गर्भे कस्य प्रथममुत्पत्तिरिति विचारः ।)

अत्राह किञ्चल्य (जात) स्य गर्भस्य प्रथमं संभवति ? हस्तं प्रादाविति
बवि (डि) शः, तत्रतिष्ठत (त्वा) त् शरीरस्य । पश्चा (क्) ऋ (गु) द इति शौनकः ;
तदाश्रितत्वाद्वायोः, नाभिरिति खण्डकाप्यः ; तत्र नाडीप्रतिष्ठत्वात्,
हृदयमिति पराशरः ; विज्ञानमूलकानां तन्मूलत्वात्, शिर इति भरद्वाजः,
शरीरस्य तन्मूलत्वात्, चक्षुरिति काश्यपः ; नेत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः ।
तस्माद्बुद्बुदमेवास्य प्रथमं संभवति । तत्र सर्वे शरीरप्रदेशास्संभवन्त्य-
बुद्बुदस्नेहीत्यन्नाः ।

(गर्भस्याशनप्रश्नोत्तरम् ।)

अत्राह किन्तु(नु)गर्वा(र्भा) मातुरुदरस्थोऽश्नाति न चेति । अत्रो-
च्यते, नाश्नाति, ये(य) दि ह्यश्नीयात् स्यादस्या(सः) पुरु(री)षमतीत
कालम्, नचेद(म)स्ति ।

(गर्भवृद्धिक्रमः)

कठं(थं) तर्हि नाभ्यां ना(डी) प्रतिष्ठिता तस्यामप(म)रा मातु-
र्हृदयमाश्रिता, तथा मातुरन्नरसो(सान)भिवर्ह(हन्)गर्भं प्रीणयत्यभिव-
र्धयति । यद्यथा कुल्याः केदारमभिसंश्रयतो(न्धो) भावयन्ति, तद्वत् ।

(गर्भावस्थाप्रकारप्रश्नः ।)

तत्राह कथं गर्भो मातुरुदरे तिष्ठतीति ? ऊर्ध्वमिति शीनकः, अवाक्-
क्षिरा इति भरद्वाजः । नित्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः । यदूर्ध्वं तिष्ठेत्तर्हि
मातृमाति(रः)स्यात् । यद्यवाक्क्षिराः, तदा स्वमाति(रः)स्यात् ।

(उक्तप्रश्नोत्तरम् ।)

कथं तर्हि ? तिर्यक् सर्वैरयमग(ङ्ग) प्रत्यङ्गैः प्रतिभुग्नः शिवे(ते) । तस्य
त(य)दुत्तरं तत् प्रथमं प्रतिपद्यते । तस्मात्तस्य शिरः प्रथमं पुनर्वसुरात्रेयः
प्रतिपद्यते, तदस्य गुरुतरं भवतीति । अथ खलु वृक्कोऽस्य मेदोगुरुरिति
संप्रवृद्धौ परस्परमभिवर्धयन्ति(तः) ॥ तत्र श्लोकः ॥

जष्मा रसस्थो देहेऽस्मिन् जीव(वं)नं(सं) गृह्य तिष्ठति ।

रसोद्भवः पुमान् तस्मात् रसो जीवनमुच्यते ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले शरीरे चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातः शरीरविचयं व्याख्यास्याम इति

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(तेजःस्थानानि)

इह खलु श्रोत्रस्तेजः शरीरे नित्ये च भवतः । ते(त)यो(ः) स्थानानि
द्वादश भवन्ति । तद्यथा वा शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लस्वेदपित्तश्लेष्म-

मूत्रपुरीषाणीति । तान्यव्यापन्नानि सुखमित्युच्यते(न्ते) । व्यापन्ने(ऽ)सु
वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा रसादिषु विकारानुपजनयन्ति ।

(योनिविभागः ।)

अथ योनयश्चतस्रो भवन्ति । तद्यथा जरायुजा (अ)ण्डजोद्भिज्जस्वेदजा-
श्चेति । तत्र जरायुजा जरायुक्तास्संभवन्ति पशुमृगमनुष्यादयः । शकुनमच्छ-
(त्स्य) कच्छपसर्व(र्ष)प्रभृतयोऽण्डजाः । यूकादु(म)त्क(त्कु)रो(ण)पतङ्गाशी-
विषमक्षिकादयः स्वेदजाः । उद्भिज्जास्तु तृणलतावृक्षवनस्पतय इति ।

(वृक्षादिस्वरूपम् ।)

तत्र पुष्पाफलवन्तो वृक्षाः । अपुष्पफलवन्तो (व) नस्पतयः । सपुष्पाः
सफलाश्च अपुष्पाश्चाफलाश्च वीरुधः । फलपा(शा)का(क)लताश्चौषधयः ।
तत्र ये श्वेतचाराः सौम्याः रक्तक्षीराः काद्राः वारुणा वारिग्रहा इति(?) ।

(गर्भाविकारनिमित्तम् ।)

इह खलु त्रिषु दशरात्रेषु पुमान् रसेन संयुज्यते, आसां तु खलु चतसृणां
योनीनामृतुकाले यदा रसास्सम्यग् व्याप्तिं वा गच्छन्ति तदा गर्भस्तिष्ठे(ष्ठ)-
त्यविकृतः विपर्यये विपर्ययः ।

(स्त्रीपुंगर्भनिमित्तम् ।)

(त्र)हन्तु खलु पुराणरुधिरं परिवर्जयेत् । किञ्च तत् पुराणम् ? यदा-
दितस्त्रहं परिस्त्रवदृतुकाले तत्पुराणम् । तस्मिन् त्रहं गर्भोपक्रमेण न
तिष्ठति, अवस्थिवा(तो)सो(ना)युषि समर्थो भवति । निर्गवे(ते)तु
त्रहं पुराणे रुधिरेण(ऽन) वस्थिते शुद्धस्त्रातायाश्चतुर्थषष्ठाष्ट(म)दशम
द्वादशसु अहस्सु गर्भोव(प)क्रमाम(णे)ण(न) पुमान् भवति । पञ्चम-
सप्तमनवै(मै)कादशसु स्त्रीत्वायोपकल्पते ।

(स्त्रीणां प्रदररोगप्रकारः चिकित्सा च ।)

स एष आसप्तरात्रात् सर्वसञ्चारोभि(पि)दध्य(धा)त्यतः परमसञ्चारोवृक्त-
(रु)त(ङ्)त्वा(द्वा)(रः)ल्यात्(स्यात्) । स्त्रीणां खलु शोणितं शरीरं शोषयति ।
तस्मान्न ता रजः पश्यन्ति । परिपूर्णधातुशरीरास्तु यदा भवन्ति
तदा विवे(रे)क जललहितं मासे मासे प्रतिवेदयन्ति । प्रतिगतप्रवेशं

च तत् पुनर्मसिने समागच्छत्यार्तवम् । यदा तु तच्छोणितं दुष्टमागं प्रतिपद्यते, तदा स्त्रीणां प्रदरो भवति । तं शरीरं शोषय(न्तं) लोहित-पित्तभेषजनोपक्रमेत ।

(स्त्रीपुन्रपुंसकयमलगर्भचिह्नानि ।)

गर्भिण्य(ः)स्तु त्रिदा(धा)काये रसोऽभिनिर्वर्तते, गर्भा(र्भ)त्पा(त्वा)य-स्तन्यत्वाय रसत्वाय चेति । इह खलु(ग) भो (र्भस्याव)स्थिताद(दा)स्था (धा)तमायतमुदरं भवति । मध्ये नार्यामन्तर्गतायां (वामं) स्थूलमल-संस्थित(र) सं(म)वृत्तमच्छिद्रं पुरुषेऽन्तर्गते (दक्षिणं) वृत्तमुन्नतं क्लीवेऽन्तर्गते मध्यमुन्नतमुभयोरन्तर्गतयो द्रो(र्द्रां)णि(णी) चो(वो)दरं भवति (पार्श्वमायतम्) । मातुरुदर(रे) स्त्री (वामे) दक्षिणे पुमान्मध्ये नपुंसकम् । वाममक्षि ऋषति नार्यामन्तर्गतायां (पुरुषे) दक्षिणं उभे नपुंसके । सव्यं पादं पूर्वं प्रक्रामति सव्येन चाक्ष्णा भूवा च पूर्वं प्रतिकुरुते चेष्टते न सर्वे(ण) पार्श्वेण प्रायः शंसते, स्त्रीसंज्ञानिषु च प्रायशो दौहृदं कुरुते नार्यामन्तर्गतायाम्, विपर्यये तदतः पुरुषं विभर्तीति विद्यात् ।

(षट्कायधातुविवेकः ।)

अथ खलु गर्भस्ये(स्य)ष(ड्भ्यः) च स्थाने(काये)भ्यः शरीरमभिनिव(र्व)-र्त(र्त्य)ते । तद्यथा जलकायाद्वायुकायात् तेजः कायात् पृथिवीकायादा-काशकायाद्रसकायाच्चेति (१) ।

षड्धातुरेवायं पुरुषो भवति । धातवः पुनः पञ्चभूतानि ब्रह्म प(य)-दध्यक्तम् । तत्र यत् खरकटिनं तद्यथा दन्तकेशरोममुखपुरीषनखास्थि-गन्धज्ञानघ्राण सङ्घातगौरवाणीति । यद्वनं स्निग्धं मृदु वा तदौदकम् । (२)

(१) “तत् पार्थिवम् । (२) यत् पित्तसूक्ष्मा च यो या च भाः शरीरे तत् सर्वमाग्रेयं रूपं दर्शनं च । यदुष्कासप्रच्छासोन्मेषनिमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनधेरणादि तदश्ववीर्यं स्पर्शः स्पर्शनं च । यदिविकृतमुच्यते महान्ति चाणूनि च स्रोतांसि तदान्तरिक्षम् शब्दः श्रोत्रं च । पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः आपो क्लेदः, तेजोऽभिरुत्तापः, वायुः प्राणः, विद्यच्छिद्राणि ब्रह्मान्तरात्मा” इति । अयं च विषयः प्रकृतानुगुण इति चरकसंहितातः संगृहीतः ।

(गर्भस्य स्त्रीपुरुषाकारतानिमित्तम् ।)

तद्य(त्स)ह सन्न(न्न) पतितयोर्यत्र पुरुषस्स(पू)र्वमर्ध(र्ध)नं(सा)द(ध)यति जघन्यं स्त्री तत्र पुमानिवाङ्गप्रत्यङ्गैस्सट्ट(हि)शो(तो) जायते, यत्र तु स्त्री प्रथममर्थे साधयति जघन्यं पुरुषः तत्र स्त्री(रि)वाङ्गप्रत्यङ्गैस्सट्ट(हि)शो(तो) जायते ।

(गर्भदोषविसरयोर्निमित्तम् ।)

अथ स्त्रीषुरूपावृतुना(का)दे(ले) रूक्षाणि वातश(ला)न्यन्नपानानि सेवेते वेगांश्च धारयतः, तयोर्गर्भः शोणितादिषु वातसन्दूषितेषु विसृतो भवति, गद्गदवाधिर्यमिस्मिन्त्वमन्येषां च वातपित्तविकाराणां अन्यतमं प्राप्नोति । एवमेव पित्तश्लेष्मलानृतुकाले मातापित्रोस्तेवमानयोः पित्त-श्लेष्मविदूषितो गर्भः संभवति ।

(कायविभागः ।)

अथ खलु गर्भशरीरं चतुर्दशेन्द्रियकायास्समनुप्रविशन्ति विधृतास्त्रा-
नुपलभ्यमानाश्च सप्त दिव्याः सप्त मानुषाः ।

(ब्राह्मादिदिव्यकायनिरूपणम् ।)

तत्र दिव्याः ब्रह्म-देव-तं(व)रुण गन्धर्व-पिशाचासुर-महाराजकाया भवन्ति, तान् व्याख्यास्यामः—तत्र यः सत्यार्जवानृशंसक्षमादमध्यान-संपन्नोऽध्यात्मतत्त्वदर्शी भवति तं ब्रह्मकायमिति विद्यात् । यस्ता(व)द्य(ज्ञ) शैलोपादान(ऽ)यद्य(धीत)त्रय्य(ऽ)त्त्ववान् मुदितस्त्वं देवकायमिति विद्यात् । यो यज्वा(ऽ)नन्दितराग दृष्टि(ः)सलिलप्रियश्चिरस्त्रायी पिङ्गाक्षः कपिलकेशः संभवति तं वरुणकायमिति विद्यात् । यस्तु प्रियनृत्तगीतवादितस्त्री विहार(ऽ)नृ(नि)त्यः शुचिवस्त्रगन्धमाल्यानुलेपनरतिर्भवति तं गन्धर्वकाय-मिति विद्यात् । यस्तु प्रियमद्यमांसमत्यस्तदा(न्द्रा)गो(लुः)महाशनो बोभक्षो बालानां भोषयिता निद्राबहुलश्च भवति तं पिशाचकायमिति विद्यात् । यस्त्वात्मो ग(द)रं मानय(न्)द्वेषी चण्डः क्रोधनो ज्ञातीनां भेदको भवति तमसुरकायमिति विद्यात् । यस्तु धीरः शूरो महाभोगो महीत्साहो महैश्वर्यश्च भवति तं महाराजकायमिति विद्यात् ।

(सप्तमानुषकायनिरूपणम् ।)

अनुरागि(गि)ण(णी) मानुषास्तु प्रत्यात्म(त्वं)दर्शनश्रवणस्पर्शनरसनघ्राण-
सुखदुःखमिति तत्प्र(सप्त) विद्यासंहिता(ः)केवलाश्चावतिष्ठन्ते, का(क्ल)-
स्त्रैति(रे) व (तै)रन्वितो जन्तुर्लिङ्गति निमिषति आकुंचति प्रसारयति
वेद्यं वेदयते ।

(मरणकाले भूतप्रलयप्रकारः ।)

न(स) यदा भेदं गच्छति तथा(दा)(ऽऽ)यः(पः) अन्तः(प्)कायमेव यान्ति
वायुर्वायुकायं तेजः तेजःकायं पृथिवी पृथिवीकायं आकाशं आकाश-
कायमिति गदा (रसो रस) कायमिन्द्रिय(मिन्द्रिय)कालं(यं) भजते, भवति
चात्र—भिद्यमाने शरीरे वै धातु दा(धा)तुं नियच्छति ।

मनो बुद्धिश्च सर्वेषां ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले शरीरे पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथातः खुड्डीकां गर्भावक्रान्तिं शरीरं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(गर्भस्थ मात्रादिजत्वपक्षोपक्षेपः ।)

इह खलु भो मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्मजश्च रसजश्च
अस्ति च सत्त्वमौ(सु)पवा(पा)द(दु)कमित्यात्रेयवचनम् ।

(अत्र न मात्रादिजत्वमिति भारद्वाजमतम् ।)

नेति भरद्वाजः (अमातृ)जश्चायं गर्भः अपितृजश्चानात्मजश्चाना(सात्म)जश्च
अर(स)जश्च, नास्ति च सत्त्वमौ(सु)पवा(पा)धि(दु)कमिति । यदि

हि माता पुत्रं जनयेद्भूयिष्ठं हि स्त्री पुत्रकामा मैथुनवर्गमभिसन्धाय पुत्रं जनयेत्, स्त्रीकामा च (दुहितृः ।)(१)

(अग्निमारुतप्रवेशस्यैवाङ्गविकारादिहेतुत्वम् ।)

(अथ यदाऽग्निमारुतौ विशतः वा(ता)वेतावङ्गप्रत्यङ्गानि विकुरुतः, तौ चेष्ट(०य)तः, तौ वर्धयतः तावेव यदा शरीरान्न(द)पक्रामतः, तदा तद्भवति निर्गतो(तं) निरूष्मा(ष्म) प्रेतो मृत इति । नेत्याह भग्नाजः, मृतोऽपि जन्तुर्वायुना धायते अग्निना शोष्यते । नेत्याह भगवानात्रेयः, स(न)ह वा तस्याग्निमारुतौ जीवयतः तयोरप्रक्रान्तयोर्यौत्व(र्वाङ्मा)ग्निमारुतावाविशत इति ।

(नानाभूतैरेकशरीरम् ।)

यत्पुनराह सति च भूतर्ना(नाना)त्वे कथमेकः, स्यादिति ? अत्रोच्यते यत्तैत्तन्मानात्वमाश्रितं तदेतदव्यक्तमस्ति पञ्चमहाभूतसंग्रह इति ।

(यत्पुनराहय.....सविवक्षादधिकारः स्यादिति अत्रोच्यते । वात-(?) पित्तश्लेष्मकतारसमुत्थास्यव्यक्ताः । प्राच्यन्ते विकाराः अव्यक्ते ह्युक्ते रूते(?) व्यक्ताः(?) कथं अव्यक्तं स्रज्जन्ति । कथं तर्हि शरीरे तद्विक्रियते, उन्माद(?) - कथमव्यक्तं(?) मनःस्पृशती (ति, ए?) तच्चानुपपन्नम्, किं तर्हि ? यथादित्यः

अथ चरकसंहितायां शरीरस्थानगततृतीयचतुर्थयोरध्याययोः पठनमत्यन्तमुपयुक्तं स्यात् इति ततः केचन भागाः संगृह्यन्ते, तद्यथा—न चात्माऽत्मानं जनयति ; न हि जातो जनयति सत्त्वात्, न चैवाजातो जनयति ; असत्त्वात् । यदायमात्मा शक्तो जनयितुं न त्वेव न कथमिष्टास्त्रेव योनिषु जनयेत् । असात्माजन्नायं गर्भः, यदि हि सात्माजः स्यात्, तर्हि सात्मासंसेविनामेव सर्वेषामेकान्ततो व्यक्तं प्रजा स्यात् । नापि रसजः ; न व शित् स्त्रीपुरुषेष्वनपत्यः स्यात् । नहि कथिद्रसा-न्नोपयुङ्क्ते । नापि परलोकाद् गर्भमुपक्रामति ; नहि तदा, स्व किमपि पूर्वदेहिकमविदितं स्यादिति । नेति भगवानात्रेयः, सर्वेभ्य एतेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्दत्तः । न हि मातापितृजीवरसान् विना गर्भस्य संभवः । न हि रसान् विना मातुः प्राणयात्रापि । पारलौकिकसत्त्वं नोपगतेन शीलमस्य व्यावर्तते बुद्धिर्विपर्यस्यति, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं ह्रियते, व्याधय आप्यायन्ते, तामसेन मनसा च संबन्धात् न स्मरति, सात्त्विकमनोनुदस्या तु जातिस्मरी भवति । मातापित्रादिजानि रूपाणि गर्भे बहुलमुपलभ्यन्ते इति ।

संभूते (१)पि मेमा(घा)न्तरितो न प्रकाशमुपजनयति, (तथा)मनो(ऽ)
न्तर्हितेषु विज्ञानस्रोतस्सु तमसा स्मृतिं नोपजनयतीति ।

(परलोकात् गर्भोपक्रमदोषनिरासः ।)

यत्पुनराह यद्ययं परलोकाद्गर्भ उ(प)क्र(त)मेत् नास्य किञ्चित्तत्वादृष्टं
स्यादिति, अत्रोच्यते इह तावदयं चिरोत्सृष्टानि विज्ञानानि विविधानि
चाश्चर्यभूतानि न स्मरति, किंपुनर्देहान्तराणि(सं) भूतानि भावविशेषाणि ?
तत्र श्लोकः—

तमसा भावितो यो वै संस्मरेन्न स मानवः ।
संस्मरेत्पूर्वचरितं सुकृते वेदवदृजः ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।
इति भेले शरीरे षष्ठोऽध्यायः ॥

अथातः शरीरसङ्ख्याशरीरं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

इह खलु शरीरे षट् त्वचो भवन्ति, उदकधरा प्रथमाऽसृग्धरा द्वितीया
सिद्धकिलासनं(सं)भवाधिष्ठाना तृतीया, ददुकुष्ठसंभवाधिष्ठाना चतुर्थी,
अलजीविद्रुधिसंभवाधिष्ठाना पञ्चमी, षष्ठी तु(सा)यस्यां छिन्नायां उन्ना(त्ता)-
म्यति तिमिरमिवानुप्रविशति, दुष्टारु(रुं)ष्काणि(षि) चास्य यामा-
श्री(म्नि)त्य जायन्त इति ।(१)

(१) तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः, तद्यथा द्वौ बाह्वौ द्वौ सङ्क्षिप्यौ शिरोयौवमिति ।

(अस्थिसंख्या ।)

| | |
|--|-----|
| त्रौणि षष्ठि(अधिका)णि(नि)(प्र)व(त)ान्यस्था(स्थां सह दन्तोलू- खलनखैः) । तद्यथा—द्वात्रिंशदन्ताः द्वात्रिंशदन्तोलूखलाः- | ६४ |
| कानि (नखाः) विंशतिः, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, | ४० |
| चत्वारि पाणिपादशलाकाधिष्ठानानि, चत्वारिपाणि- पाद(पृष्ठानि), (षष्टिरङ्गुल्य-स्थीनि)द्वे, पार्श्वौ(णरौः), | ८ |
| चत्वारः पादयोः गुल्फाः, द्वौ माणिकौ(द्वौ)वाम- णिके(कौ) (ह)स्तयोः, (४) चत्वार्यर(त्नोर)स्थीनि, | ६२ |
| द्वे जङ्घयोः, द्वे जानुनि(नोः) द्वे क(कू)पा(र्प) (रयोः), (द्वे)जरु(र्वीः) नशकौ (कशेरौ) द्वौ, (द्वे) | ८ |
| अन्न(अंस)फलके, द्वौ(द्वे)अ(क्ष्णोः) एकं (द्वे)जतु (त्रुणि), द्वे तालू(लुनि), (द्वे)द्वे चुबुके, द्वे त्र्योणि- | ६ |
| फलके, एकं भगास्थि, पञ्चचत्वारिंशत्पृष्ठगतो(ता) धृ(न्य)- स्थि(स्थी)नि पञ्चदश(ग्रौ)ना(वा)यां, चतुर्दशोरसि चतु- | ४६ |
| र्विंशतिः पा(र्श्व)र्श(का(योः)पार्श्वयोः(या) वन्ति चैव स्थाल(लि)कानि तावन्ति चैव स्थाल(लि)का(न्य)र्बुदका | २८ |
| (रा)णि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुबन्धने, एकं नापा(सा) स्थि, तथाहनुकूटलात् चत्वारि शीर्षकपाला (नि)इति ।(१) | ४८ |
| | २४ |
| | ८ |
| | ३६३ |

(हृदयादिसंख्या ।)

हृदयमेकम् चेतनायतनम् । दश प्राणायतनानि तद्यथा स्मूर्धा कण्ठो
हृदयं गुरो(दो) नाभिर्वस्तिरोजः शुक्लं शोणितं मांसमिति ।(१०)

(कोष्ठसंख्या ।)

पञ्चदश कोष्ठानि, तद्यथा—नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यक्ष्च प्लीहा
च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधानं च(र)माशयं चोत्तरगुदश्चाधरगुदश्च क्षुद्रा-
(च)स्थूलान्त्रं च निवाप्यहन (१३) न(वपावहनं)चेति ।

(१) पञ्चेन्द्रियधिष्ठानानि, तद्यथा लग् जिह्वा नासिकाक्षिणी कर्णौ च । पञ्च बुद्धेन्द्रियाणि—
स्पर्शनं रसनं घ्राणं दर्शनं श्रोत्रमिति । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि हृत्प्राणो पादौ पायुपस्थौ जिह्वा चेति चरकरुद्धिता ।

(प्रत्यङ्गसंख्या ।)

षट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि । तद्यथा—हे गुरुफौ, हे नितम्बे, हे जङ्घे, हे पिण्डके, हे जरुपिण्डके, (१०) द्वौ वृषणौ, एकम् शेषः (फः), द्वौ शङ्खौ, द्वौ वृक्षणौ, द्वौ कुकुन्दरौ, (१८) एकं वस्तिः, शीर्षं एकम्, उदरमेकम्, द्वौ स्तनौ, द्वौ बाहू, द्वे (स्फि)कौ (चौ), (२८) एकं चुबुकं, द्वौ ओष्ठौ, द्वे दन्तचे (वे)ष्टे, द्वे सृक्ख्यौति (३५) एवं (कं), ताळ (लु), गळकु (शु)ण्डिका एका, द्वौ कर्णौ, द्वे कर्णशष्कुलिके, (४१) द्वौ गण्डौ, द्वे अक्षिकूटे, चत्वार्य-क्षिवर्मानि, द्वे अक्षिणी (५१) (द्वे अक्षिकनीनिके द्वे भुवावेकमवटु- (इ)ति (५६) ।

(शरीरद्रव्यपरिमाणम् ।)

शरीरद्रव्याणि—दशोदकाञ्जलयः, शरीरे प्रच्यवमानं पुरु (री) षमनु-बध्नातीत्यतियोगेन । नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोर्यत् रस इत्य-भिचक्ष (ते) कुशलाः । अष्टौ शोणितस्रः, सप्त पुरीषस्य, चत्वारो मूत्रस्य, द्वौ मेदसः, एको मज्जनः, मस्तिष्क (ष्क) स्या (र्धा) ञ्जलिः, शुक्लस्य चेतः ।

(देहान्तरसंक्रमक्रमः ।)

अथ प्रश्नो भवति कथमयं देवो (हो) देहान्तरमुपक्रमत इति ? अतोवाच भगवानात्रेयः, जलूकाया इवास्य केचिद्व्रतिं ब्रुवते, तन्न युक्तम्, इहानीतिन्य-त्यन्तामूर्तत्वं, (इहा मुत्रार्थत्वं) युगपत् स्यादेव । अपरोऽप्येवमिच्छति । सर्व-थापि सुमुत्तोरस्यायमन्तरात्मा परमुपक्रमत इति । सर्वथा ह्यस्मिन्परित्यक्ते परिचये तावदसंप्राप्तं तरां स्यात् । अवसानत्वाचेत्तदिष्टं कर्मणोप्येवं भवति वैयर्थ्यमपि तु खलु प्रतिश्रुत्या बहिनः परत्र गमनं तस्य विद्यात् (?) ।

अथवा यथादित्यस्य हृदये भूमौ रश्मयः प्रतितिष्ठन्ति विलम्बितावे (ए) व म (मे) तस्य यत्र गमनमनुपश्ये (श्ये) दिति ।

(अध्यात्मदैवतानि तत्कार्याणि च)

अथ खलु पुरुषा षोडशाध्यात्मदेवता भवन्ति । तद्यथा—अग्निश्च पृथिवी चापञ्चाकाशश्च वायुश्च विद्युश्च पर्जन्यश्च (इन्द्रश्च) गन्धर्वश्च सृत्युषा-दित्यश्च चन्द्रमाश्च तृणा (त्वष्टा) च विष्णुश्च प्रजापतिश्च ब्रह्म (१६) चेति ।

तानि कर्मभिर्विद्यादुत्पत्तितश्च परिमाणतश्च विद्यात् । जप्ता ह्यत्राग्नि(ग्ने)श्च
कर्म देहे घ्राणं च पृथिव्याः, स्नेहो रसो(रस)नं चोदकस्य, स्पर्शनं वायोः, श्रोत्रं
चाकाशास्य, रूपादानं पर्जन्यस्य, से(रस)वेगादानानि वि(द्यु)तः, बल-
मिन्द्रस्य, कामा गन्धर्वाणाम्, कोपो मृत्योः, चक्षुरादित्यस्य, रूपं त्वष्टुः, चेष्टा
विष्णोः, व्यवयः प्रजापतेः, बुद्धिर्ब्रह्मण इति ।

तत्र श्लोकः—

विशुद्धनेत्रास्तपसा मुनयः शान्तकल्मषाः ।

जगतश्चोपपन्नाश्च स्वर्भा पश्यन्ति मानवान्(?) ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति मेले सप्तमोऽध्यायः ॥

अथातो जातिसूत्रीयं शारीरं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(अवस्थात्वनिमित्तम् ।)

इह खलु भोः याः स्त्रियः पथ्यलघुभोजन्योऽनुदावर्तनशीला अप्रदुष्टा
यथागर्भाशयाः सुविशुद्धस्रोतसो भवन्ति, ता आचक्षतेऽवस्था इति
कुशलाः । ता इष्टरूपं मेधावि चापत्यं जनयन्ति, विपर्यये विपर्ययः ।

(बीजवृद्धिक्रमः ।)

ऋतौ च गर्भोऽप(व)तिष्ठते । तद्यथा—सुकृष्टक्षेत्र(त्रे)बीजं प्रक्षिप्तं तत्र
ब्रीहिः ब्रीहित्वाय कल्पते, यवो यवत्वाय एवमे(मि)प्रि(न्द्र)यमृतुकाले विमृष्ट-
मा(म)दुष्टायां योनौ गर्भाशयमुपगच्छति । तद्यथा(ऽऽ)य(प) आवर्तं गृहीताः
प्रतीपं प्रतिधावन्ति तद्वत् शुक्लशोणितं गर्भाशये अस्ति(स्थि)कं(रं)क्षी(क्ष)
रमि(दि) व । तं चा(तच्चाऽऽ)नि(ष्टे)क(से)नकमिवोदुम्बरेण निषिक्तं एकत्व-
मापन्नमृद्धिं लभते ।

अवदातश्यामादिपुत्रोत्पत्त्यर्था नियमाः ।

साचे(चि)व(दा)कांचो(क्षे)हा(ही)हि(घी)कि(युः) शिवावदातपुत्रं जनय-
(ये)(यमिति), यवानां म(मो)दनं सर्पिस्संयुक्तं सप्तत्रयमनुपहितं भुञ्जीत ।
ततो दौहृदे श्वेताया गोः सरूपवत्साया पयसि पायसं पाचयित्वा तदेवात्मी-
(श्री)यात् । शुक्ले च वाससः(सौ) परिर(द)भ्या(ध्या)त् । सर्वश्वेतं चास्याः
संस्कृतं विमानं कारयेत् । (श्वेतं) वृषभमव(या)स्या दर्शयेत्, एवमवदातं
पुत्रं जनयेत् ।

नेत्याह शौनकः । पैङ्गव्यं वा ततोप्यत्रेत्यात्रेय उवाच(?) । किं स्यादावा-
धकः(?) पिङ्गलावयवा आयुषन्तो नौरोगाश्च भवन्तीति इति ह(ी)वा)च ।
साचेदेवमाशासत(ति)श्यामं लोहिताक्षं पुत्रं जनयिते(ति) यावत् द्वितीये
मासे पुष्यं पश्येत् । यमिति(?)येषामवचवानां शब्दं कारयेत् ।
लोहितकुक्कुटरक्तं सप्तत्रयं रक्तशाल्यन्नमनुपहतं भुञ्ज(ी)नं(त)दौहृदि(दे)
सा ताम्नेण च वाससा परिदध्यात् । ताम्ने चास्याः शयनासने दद्यात् ।
रक्तवृषभमदं(जं) वास्या दर्शयेत् । एवं श्यामं लोहिताक्षं पुत्रं जनयति ।

(द्वितीयमासिपुष्यदर्शने गर्भावस्थाप्रकारः ।)

यावत् द्वितीये मासि पुष्यं पश्येन्न व(त)स्या गर्भस्तिष्ठतीति विद्यात्
जातना(सा)राहि तदा गर्भवत्यो भवन्ति । तस्यासु खलु योनि(र)जात-
सारे(रा) पुष्यमाश्रयति तस्याः पतति वापीत्यकालं वावतिष्ठते गर्भः
परिशुष्कमात्र इति ।

(४र्थ ५म ६ष्ठ ७म ८म मासेषु गर्भिण्या आहारविशेषादयः ।)

चतुर्थे खलु मा(ग्रा)से प्रतिविहिते क्षीरे नवनीतं प्राश्नीयात् । पञ्चमे
क्षीरयवागूः । षष्ठे क्षीरसर्पिः, सप्तमे तु खलु मासे गर्भप्रपीडिता वात-
पित्तभाणो(ण्ड)प्राप्य विदह्यमाना कण्डूं जनयन्ति । तेन किक्किसानि-
जायन्ते । स्त्रीणं (तूर्णं) त्रिफलाचूर्णं शशरुधिरिण पिष्ट्वा तेनास्याः ता(स्तना)-
न्य(व)लेपयेत् । अष्टमे तु खलु मासे प्रतिविहिते सति सूतिकागारं सम्यक्
प्राग्द्वारमुद्वह्यं वा कारयेत् तिन्दुकपलाशाश्वत्थैः ।

(अष्टममासानन्तरं सन्नद्धव्यानि वस्तूनि तेषामुपयोगश्च ।)

अथात्र पूर्वसङ्कल्पिताः स्युः द्वौ खलु(बिल्व)मयौ पर्यङ्कौ शूर्पौ च द्वौ उलूखलमुसलौ गण्डो(न्धो)पवा(पा)नय(वा)गूसर्पिश्च तैलं च सर्षपाश्चेति । नवमे तु खलुः मासे प्रतिविहिते कदम्बमापतैलेनानु(वासयेत्) । एवं ह्यस्याः प्रतिसंवर्तमासा(ना)याच्च(श्च) त(ल)म्भतं(लं) भवति । जीर्णपुरीषं चाधःस्न-
वन्मुखं च जायते । अथैनां प्रजनिष्यतीति यवागूं पाययेत् ।

(अनागतवेदनायाश्चिकित्सा ।)

अनागतगर्भवेदां चैनां अवहननं च (१)कारयेत् । सा यदि जानीयादव-
भ्रष्टो मे कुक्षिः प्रविभुक्तो मे हृद्गर्भः प्रस्रुता मे योनिरिति, अथैनामुप-
कारिकल्पितसखाश्चतस्रो(स्रउ)पजाविकाः प्रतिदिनमुपतिष्ठेयुः, शनैः पूर्वं
प्रवाहात्पश्चाद्वलवत्तरमिति । नचाप्यनागतवेगा वा बाह्विततया(?) ह्यनागत-
वेद(ना)दुःखा या(वा)आत्मानं प्रयच्छति, सपुत्रेण तस्याश्चेत्प्रजाताय अपरान्
प्रपद्यते । (?) तथैनां रक्तशालीनांमक्षमात्रं कल्पमन्त्रेण मूत्रेण पाययेत् ।
एतेनैव कल्मेन दन्ते द्रवन्ती वृश्चिकाली पुनर्नवा वनशोर्षाकं कारयेत् ।
तफमकाल सर्वपुराणमालानामन्यतमेन पाययेत् । साचेदनेन विधिना
न प्रवर्तते अथैनां तीक्ष्णलतैवे(ले)नानु (वासयेत्)(१) ।

इति भेले शारीरेऽष्टमोऽध्यायः ।

इति भेलसंहितायां शारीरस्थानं समाप्तम् ।

(१) चरकसंहितायां पर्वतैतदीयः सिद्धान्त एवामूद्यते इति स्थितेऽपि अवहननविषये अत्र
भेलसंहितायां तत्कर्तव्यमित्युक्तम्, चरके तु तत्र कर्तव्यमित्युक्तमिति विशेषोऽतानुसन्धेयः ।

हेवा जात एव विनश्यति ।

(१) (एकद्विचतुर्मासजीविगर्भवर्णनम् ।)

ऋस्वैकपक्षो विततो यस्तु गर्भस्तु सुखरः ।
 मासमेकं तु जीवित्वा विनाशायोपपद्यते ॥
 पिण्डीशिरा दीर्घहनुः अनल्पे संहति(ते) भ्रुवौ ।
 द्वितीये मासि संप्राप्ते म्रियते गर्भ ईदृशः ॥
 जातमात्रस्य गर्भस्य व्यंजनं यत्र दृश्यते ।
 तृतीये मासि संप्राप्ते म्रियते गर्भ ईदृशः ॥
 त्रिकेक(श)रो(को) घटशिरा यस्तु गर्भस्तु सुखरः ।
 चतुर्थे मासि संप्राप्ते विनाशमुपगच्छति ॥

(अल्पदीर्घायुष्टचिह्नानि ।)

यस्य षोडशवर्षस्य व्यञ्जनं तूपजायते ।
 शीघ्रं स पञ्चषातुत्वादल्पायुरिह दृश्यते ॥
 यस्य विंशतिवर्षस्य व्यञ्जनं तूपजायते ।
 न(स) दीर्घमायुराप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ॥
 शरीरोपचयो बुद्धिरपथ्यानि बलं तथा ।
 बालस्य यस्य दृश्यन्ते तं गतायुषमादिशेत् ॥

(२८, ४०, ५०, ६०, ८०, १००, वयस्कलक्षणानि ।)

यस्य जा(त)स्य जायेते गुल्फकास्तु नखौ तथा (?) ।
 अष्टाविंशे गते वर्षे सर्वं तं हन्ति मानवम् ॥
 ष(ष्ट)ष्टि(ष्ठे) चोरसि चावर्त(ते) मृ(सं) व्यथो यस्तु दृश्यते ।
 चत्वारिंशगते वर्षे मरणायोपकल्पते ॥
 आवर्तय(क)श्च पृष्ठे तु संनद(तः) स्त्रीषु दृश्यते ।
 फलमस्य तु विज्ञेयं स्थापनं न प्रसूयते ॥

(१) अत्र मातृकायां ५६ तम पर्वं वृत्तितं, तत्राध्यायशेषः इन्द्रियस्थाने प्रथमाध्याये कतिचन श्लोकाश्च गता इति संभाव्यते । अत्र चरकसंहितायां भेलसंहितायाश्च विशेषतः सारूप्यं वर्तते इति तत्रेवात्रापि-
 शरीरस्थानेऽष्टावध्याया इति निर्णयते ।

स्थूलास्थूलाङ्गुली वा(पा)णी नखा यस्यातिलोहिता ।
 कल्याणदेशः प्रत्यङ्गः पञ्चाशद्वर्ष एव च ॥
 व्यूढोरस्को दोर्घभुजः स्थूलजानुश्च यो भवेत् ।
 दीर्घाङ्गुलिर्दीर्घनखः षष्टिवर्षाणि जीवति ॥
 उत्पीडितस्वरं वापि तुङ्गनासकचोन्मुखम् ।
 ऊर्कं भद्रसंपन्नं विद्यान्माजिम्बिकं नरः(?) ॥
 भद्रं पुरस्तात्पञ्चाच्च ऋजुकं प्रियवादिनम् ।
 अशीतिकं नरं विद्यात् कृष्णात्रेयवचो यथा ॥

(शतायुःपुरुषलक्षणानि ।

ललाटं नासिका कर्णौ यस्यैतानि पृथक् पृथक् ।
 षडङ्गुलप्रमाणानि स जीवति शतं समाः ॥
 यस्याकुञ्चितमेव स्याच्चानुभ्यां समितं शिरः ।
 ऊर्ध्वजानुगतौ कर्णौ सौ(पौ)त्रं पश्यत्य(यं)नरः ॥
 महान्तौ विपुलौ कर्णौ भवेतां रोमशौ तथा ।
 स्निग्धो बहुलकेशश्च स चेह शतमृच्छति ॥

दीर्घायुद्वोपायः ।

धर्मण सत्यवाक्येन गुरुशृङ्गुषणैः च ।
 रसायनोपयोगाच्च स दीर्घमनुजीवति ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातः स्वस्थयनमिन्द्रियं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(भाविस्वस्थताचिह्नानि मुखादिराग-गुह्यगूहनादीनि ।)

मुखं नेत्रे शरीरं च पाणिपादं तथैव च ।

सरक्तं दृश्यते यस्य स वै स्वस्थो भविष्यति ॥

नास्य दन्ता प्रलुप्यन्ति मुखं च न विलुप्यति ।
 नाबद्धं बाधयेच्चापि स वै स्वस्थो भविष्यति ॥
 न नि(वि)क्षिपति(न्ति) गात्राणि स्वरोऽस्य न विवर्तते ।
 वस्त्रेण गूहते गुह्यं स वै स्वस्थो भविष्यति ॥
 न भवत्युन्नतो नाभिर्य(थाऽ)वस्था()भित्तिष्ठति ।
 सुखं श्च(स्व)स(पि)ति रात्रौ च स वै स्वस्थो भविष्यति ॥
 न नखा कर्कशाभासा न(श्चा)वा नच निष्प्रभाः ।
 प्रसन्नास्सुप्रभाश्चैव स वै स्वस्थो भविष्यति ॥
 आतपाऽधिष्ठितो यस्तु न प्र(कृष्टं) प्रकाशते ।
 न च लोहित संयु (१)

इति भेले इन्द्रिये द्वितीयोऽध्यायः ॥

(गतायुर्लक्षणानि)

धित स्वप्ने तां रात्रिं नातिवर्तते (१) ।
 इयं मे शिष्टशिविका वैदूर्यमणियन्त्रिता ॥
 एवं प्रलपयेच्चातीं गतायुरिति तं विदुः ।
 प्रज्वलत्यपि यो दीपे तम एवाभिपश्यति ॥
 शब्दो(ब्द)न्वि(ज्जि)प्र(व्र)ति ब(ग)न्माँश्चापूर्वाणि
 प्य(नि)व नास्ति नः (सः) ।
 अवाक् शिरा प्रलम्बामि नाम मा परिवर्तये ॥
 मनुजः प्रलपन्नेवं समाहं नातिवर्तते ।
 ध(म)र्माणि दलितानीव योऽभौक्ष्यं चातिसार्यते ॥
 प्रवाहमानो दुर्गन्धि क-(पू)पं(यं) पूतिकं तथा ।
 तच्च लोहितगन्धं वाप्यथ वा मत्स्यगन्धिकम् ॥

(१) अत्र साटकायां ६० तस्यपत्रं वृटितम्, तत्राध्यायशेषः तृतीयाध्याये कतिचन श्लोकाश्च गता इति संभाव्यते ।

कृष्णं नीलं विवर्णं वा मुमूर्षुश्च स होच्यते ।
 मधुमेही वसामेही सर्पिर्मेही च यो नरः ॥
 बहुमेही च यो जन्तुः स वै प्रोक्तः परासुत(क)ः ।
 प्रमेहेत यदा जन्तुः बिन्दुं बिन्दुं न(स)वदनम् ॥
 वायुना भिन्नवस्तिः स्याद्वर्लभं तस्य जीवितम् ।
 क्लमयो बहवो यस्य निस्सरन्ति शरीरिणः ॥
 आतुरस्य शयानस्य नौषधं तस्य सिध्यति ।
 इत्येतानि भिषग् दृष्ट्वा लक्षणानि मुमूर्षताम् ॥
 न चिकित्सां प्रयुञ्जीत यथामार्गचिकीर्षके ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये तृतीयोऽध्यायः ॥

अथातस्त्वद्योमरणीयमिन्द्रियं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(सद्योमरणचिह्नानि)

यदाऽऽतुरस्य हृदयं वायुं सङ्गृह्य तिष्ठति ।
 द(ध)मनि(नौः)सां(सं) परीपीड्य सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥
 आतुरस्य यदा वायुः शरीरमनुपद्यते ।
 उत्तानो नेत्रनिष्पन्दः सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥
 यस्य कोष्ठगतो वायुरुपावृत्तशरीरिणः ।
 क्षीणलोहितमांसस्य सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥
 यस्यातुरस्यैह वातादांताठीला विवर्धते ।
 न संसरति चान्यत्र सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥
 यस्यापि पिण्डके स्तम्भे (ब्धे) नाना(सा) जिह्वा च लक्ष्यते ।
 न्यावृत्ते चाक्षिणी यस्या सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥

आमाशयसमुत्थाना यस्यैव परिकी(क)र्तिका ।
 दृष्ट्वा च तीव्ररागश्च सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥
 पक्वाशयसमुत्थाना यस्य सप्तात् परिकी(क)र्तिका ।
 दृष्ट्वा ग(गु)भ(द)ग्रहश्चोग्रः सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥
 शोणितं रोमकूपेभ्यो यस्य कक्ष(क्षर)ति देहिनः ।
 अतीव मुखतो भेदि सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥
 हृदयस्य तु सङ्घातं परीक्षीणस्य देहिनः ।
 अत्यर्थं पीडयेत् स्त्री(श्री)लं(र्षं) सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥
 यस्य क्षीणः शरीरस्य संज्ञां हरति मारुतः ।
 व्याहन्ति महतीस्रोतः सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥
 एतैरेवंविधैर्लिङ्गैरन्यैश्चापि तथाविधैः ॥
 प्रकृतेर्विक्तं प्राप्तं परीक्षेतातुरं भिषक् ।

इत्याह भगवानात्रेय ।

॥ इति भेले इन्द्रिये चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथातो यस्यशावीयं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

यस्य श्यावे उभे नेत्रे दृश्येते हरिते तथा ।
 उत्पन्नस्य शिरोरोगः फ(प)लि(ति)तं तस्य जीवितम् ॥
 हरिता(श्च शि)रा यस्य रोमकूपाश्च लोहिताः ।
 भुङ्क्ति(क्ते)व(ऽभिलाषौ) सास्त्रानि तत्रैव न(स)विनश्यति ॥
 यस्योर्ध्वं वातः रु(को)पेन जन्तोका(रा)माशयं गतः ।
 हृदयं परिगृह्णाति परितं तस्य जीवितम् ॥
 गात्रे च पाणिपादे च यस्य शुष्यति शोणितम् ।
 मुहुर्मुहुर्नृत्यति च परितं तस्य जीवितम् ॥

वृषणी पाणिपादौ च यस्य शुष्कं मुखं तथा ।
 क्विश्च शोषमायाति परेतं तस्य जीवितम् ॥
 हनू हस्तौ च पादौ च वृषणं लिङ्गमेव च ।
 दृश्य(दह्य)ते देहिनो यस्य परेतं तस्य जीवितम् ॥
 हृदयं दह्यते यस्य तं मुमूर्षुं समादिशेत् ।
 आतुरस्तु सया(वा)तो वै परेतं तस्य जीवितम् ॥
 अपस्मारः क्षयः कुष्ठं रक्तपित्तमथोदरम् ।
 गुल्मश्च मधुमेहश्च दीर्घरोगा भवन्ति ते ॥
 वलमांसक्षयो यस्य देहिनो दीर्घरोगिणः ।
 दृश्यते स्वरहानिश्च परेतं तस्य जीवितम् ॥
 हृदयं दह्यते यस्य कोष्ठे शूलं स्वरक्षयः ।
 अभीक्ष्णं दह्यते चापि परेतं तस्य जीवितम् ॥
 वासाभितापा जन्तूनां कोष्ठे शूलाश्चरन्ति च ।
 हिक्काहृदिपरीतश्च परेतं तस्य जीवितम् ॥
 या(यो)पि द(च)ज्वलितं मर्त्यो(ः) सलिलं हि हुताशनम् ।
 भास्करं मन्यते सोमं दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥
 यश्चापि विमले सूर्ये मेघान् पश्यति सर्वशः ।
 दुर्दिनं सुदिनं चापि परेतं तस्य जीवितम् ॥
 यं रसा नावतिष्ठन्ते भेजजं चेन्द्रियाणि तु ।
 यस्य वा विपरीतानि न च जीवति तादृशः ॥
 वानस्पत्यफलं मूलं रोगसृष्टस्य त(य)स्य वै ।
 भैषज्यार्थं न दृश्येत न च जीवति तादृशः ॥
 इत्येतानि भिषक् दृष्ट्वा लक्षणानि मुमूर्षताम् ।
 स(न) चिकित्सां प्रयुञ्जीत यशोमार्गपरिच्छ(रीप्स)ये ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः पूर्वरूपीयं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(सुमूर्षुपूर्वरूपाणि)

अन्तर्लोहितकायसु बहिः पाण्डु प्रकाशते ।
पूर्वरूपं तथा(दा)चष्टे मानवस्य सुमूर्षतः ॥
बहिर्लोहितकायसु पाण्डुरन्तः प्रकाशते ।
पूर्वरूपमनुप्राप्तः स मृत्योरुच्यते नरः ॥
अन्तर्ग्लानो बहिःपीनो बहिराध्मात एव च ।
यश्चाव्यक्तस्त्रमाध्मातस्त्रवेप्येते परासुकाः ॥
अभीष्टां जी(गी)र्यते यस्तु निवातमभिनन्दति ।
अनुषक्तप्रतिश्यायः क्षिप्रं श्वासेन हन्यते ॥
द(ध)नादीवा प्रलापी वा हसत्यत्यर्थमेव च ।
उन्मादेन क्लशो जन्तुः पञ्चत्वमुपगच्छति ॥
घनं सशूलं यो वेद सदाहं हृदयं नरः ।
हृद्रोगेण क्लशो जन्तुः विनाशमुपगच्छति ॥
प्रश्न(स्त्रि)द्यते च कण्डूमा(त्या) यो विरुद्धं च सेवते ।
अविरेचनशीलश्च कुष्ठेन च(स) विनश्यति ॥
सुकुमारश्च यो जन्तुः स्नेहं मांसं च सेवते ।
दिवा स्वपिति चाभीक्षां स प्रमेही विनश्यति ॥
परिशूनश्च यो जन्तुः स्वेदे च परुषच्छविः ।
भिन्नं यच्चो(स्त्री)पविशति सोऽतिसारेण हन्यते ॥
यस्याग्निश्च बलं चैव नाल्पं भवति देहिनः ।
क्षीणलोहितमांसस्य यथा प्रेतस्तथैव च(सः) ॥
सद्यो रक्तं शिरो यस्य पीतकं वा प्रदृश्यते ।
कपिलं पुष्टकेशं वा यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
यस्य नेत्रे ललाटे च मुखं नासा भ्रुवौ तथा ।
जिह्वानि कुरुते वायुः यथा प्रेतस्तथैव सः ॥

श्यावाकटङ्गिनी जिह्वा यस्य शुष्का प्रदृश्यते ।
 श्यावे नेत्रे नखाश्चापि यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 यस्य निर्भिव्यते कण्ठः ताम्यत्युच्चैश्शरीरिणः ।
 बहिरायामभाजस्तं प्रत्याचक्षीत पण्डितः ॥
 यस्योर्ध्वकाये बलवान् नवो रोगस्तु दुर्लभः ।
 पूर्वरूपं तथा वाच्यं मानवस्य मरिष्यतः ॥
 यस्य चुकुन्दरीगन्धः पुरुषस्य भवत्यथ ।
 सौवर्णानपि वृक्षांश्च यो वेद स विनश्यति ॥
 इत्येभिरीदृशैश्चान्यैर्विकारैर्दर्शितं नरः ।
 नोपक्रमेत मेधावी य इच्छेदात्मनः सुखम् ॥
 इति भेले इन्द्रिये षष्ठोऽध्यायः ॥
 इत्याह भगवानात्रेयः ।

अथात इन्द्रियाणीकमिन्द्रियं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(सामान्यतो मरणलक्षणम् ।)

इन्द्रियाणि यथा जन्तोः परीक्षेत विशेषवित् ।
 आयुः प्रमाणं जिह्वा(ज्ञा)सुभि(भि)षक् तं मे निबोधत ।
 अन्नपानात्(न्) परीक्षेत दर्शनाद्यैश्च तत्त्वतः ॥
 अर्थादि विहितं ज्ञानं इन्द्रियाणामतीन्द्रियम् ।
 स्वस्थेभ्यो विवृतं यस्य ज्ञानमिन्द्रियसंश्रयम् ॥
 अलक्षितं निमित्तेन लक्षणं मरणे हि तत् ।
 इत्युक्तं लक्षणं सम्यगिन्द्रिये(ष्व) शुभोदयाः(म्) ॥
 तदेव तु पुनर्भूयो विस्तरेण निबोध मे ।

(विशेषतो मरणलक्षणम्)

घनीभूतमिवाकाशं पश्यन्त(आकाश)मिव मेदिनो(म्) ॥
 विहि(ह)तं हृदयं त्वेतत् पश्यन् स्म(म)णमि(मृ)च्छति ।
 यस्य दर्शनमायाति मारुतोऽम्बरगोचरः ॥
 अग्निर्ना(ना) य(वा)ति वा दीप्तः तस्यापि क्षयमादिशेत् ।
 जलेऽपि निर्मले जालमजालं मनुते नरः ॥
 सि(स्थि)रे गच्छति वा दृष्ट्वा जीवितात् परिहीयते ।

(रात्रिमरणचिह्नानि ।)

जाग्रत् पश्यति यः प्रेतान् रक्षांसि विविधानि च ॥
 अन्यद्वाप्यद्भुतं किञ्चिन्न स जीवति तादृशः ।
 योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम् ॥
 कृष्णं वा यदि वा शुक्लं न स जीवति मानवः ।
 मरीचिं(ची) नसतो मेघे मेघान्वाप्यसतोऽम्बरे ॥
 विद्युतो वा विना मेघान् न स जीवति मानवः ।
 मृषयीमिव यः पात्रं(त्री) कृष्णांघ्रापि(म्बर)पु(प)रोष(वृ)ताम् ॥
 आदित्यव(म)र्धचन्द्रं वा क्षिप्रं दृष्ट्वा विनश्यति ।
 नक्तं सूर्यमहश्चन्द्रमवक्लौ धूमसुलितम् ॥
 अग्निं वा निष्प्रभं दृष्ट्वा रात्रौ मरणमावि(दि)शेत् ।

(क्षिप्रमरणचिह्नानि ।)

प्रभावतः प्रभाहीनां(नान्)निष्प्रभां(ान्) या(ये) प्रभावतः ॥
 नरा न्वि(वि) लिङ्गान् पश्यन्ति भावा(न्) भाव(प्राण)जिघां-
 (हा)सवः ।

व्याकृतौनि च (वि)वर्णानि विसङ्ख्योपचितानि च ॥
 निमित्तानि च पश्यन्ति रूपाण्यायुः परीक्षयात् ।
 यः पश्यत्यदृशं(श्यं) वापि दृश्यं यस्तु न पश्यति ॥
 तावुभौ गच्छतः क्षिप्रं यमक्षयमसंशयम् ।

(शब्दायथावत्ज्ञानेन समूर्षुर्निर्णयः ।)

अशब्दस्य च यः श्रोत्रो(ता)शब्दं यच्च(श्च) न विन्दति ॥
 हावप्येतौ यथा प्रेतौ तथा ज्ञेयौ विजानता ।
 विपर्ययेण यो विद्याद्वन्द्वानां चै(सा)व(ध्व)ना(सा)म(धु)त(ता)म् ॥
 न(-चै)वा(तान्)सर्वतो विद्याद्विद्यात्तं वै गतायुषम् ।
 यो रसं न विजानाति व(न) भुक्तं वा च तत्त्वतः ॥
 अ(अ)पक्वान् दृ(प)श्यते पक्वान् तमाहुः कुशला नराः(मरं) ।
 उष्णान् शीतान् रसान् श्लक्ष्णाम्(न्) मृदूनपि च दारुणान् ॥
 स्पर्शान् स्पृष्ट्वा ततोन्मथ(त्वं) समूर्षुस्तेषु मन्यते ।
 (विनैव योगमोक्षरादि ज्ञानादिकं समूर्षुचिह्नम् ।)
 अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम् ॥
 इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमुपपद्यते ।
 इन्द्रियाणामृते दृष्ट्वा(ष्टे) इ(रि)न्द्रियार्थान्न(न)दोषजान् ॥
 नरः पश्यति यः कश्चिदिन्द्रियैर्न स जीवति ।
 स्वस्तां(स्थाः) प्रजाविपर्यासैरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम् ॥
 पश्यन्ति ये तु बहुशः तेषां मरणमादिशेत् ।
 एतदेव च विज्ञानं यस्म्यगनुपश्यति ॥
 मरणं जीवितं चैव स भिषग्ज्ञातुमर्हति । (१)

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये सप्तमोऽध्यायः ।

(१) अयमध्यायः चरकसंहितायामत्र प्रकरणे चतुर्थाध्यायत्वेन परिगणितः । अत्र सर्वेऽपि श्लोकाः
 चरकसंहिताश्लोकेभ्यो न किमपि वैषम्यं प्राप्ता इति सूच्यते ॥

अथातो दूताध्यायं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(प्रत्याख्येयदूतप्रश्नाः ।)

तृणान्नखान्वा छिन्दन्वै भेषजं परिपृच्छति ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

विभ्रुतं भाषमाणश्च भेषजं परिपृच्छति ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

भिनत्ति काष्ठं काष्ठेन लोष्टं लोष्टेन वाप्यथ ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

सृशन्नङ्गानि बालांश्च भि(भे)षजं परिपृच्छति ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

विधाय पाणिना नाभिं भि(भे)षजं परिपृच्छति ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

(प्रत्याख्येयदूचेष्टाः ।)

कपालिकां शर्करां वा भिनत्त्यङ्गारिकामपि ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

आस्ते भूमौ परित्यान्तो गृह्णात्य(न्य)मवा(था)भ्र(श्च)म(य)म् ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः ।

इत्यातुरस्य हि यदा भवेद्दूतो न सोऽस्ति वै ॥

करं करेण गृह्णाति पाणिना ताडयेत् करम् ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥

(अशुभशकुनानि ।)

खादेदौष्ठौ च जिह्वां च नखान् दन्तैश्च कल्पयेत् ।

आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्यायस्तथाविधः ॥

आतुरस्य यदा गेहे वैद्यो वै पर्युपस्थिते(तः) ।
 क्षिद्यते भिद्यते चैव प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥
 प्रावर्तयन् घटं पूर्णं ब्राह्मणं परिपृच्छति(?) ।
 आतुरस्य यदा दूतः प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥
 गृध्रः शृगालः काकश्च(ऽ) पु(प्यु)लूको वायसस्तथा ।
 नदेयुर्दक्षिणे पार्श्वे रोगिणो यस्य नास्ति सः ॥

(प्रत्याख्येयदूतस्वरूपम् ।)

काषायवस्त्रो मुण्डो वा जटिलो वाऽथ क(ल)ग्नकः ।
 चर्मभिर्वा परिवृतो महानस्ये(स्ये)व शटिकः ॥
 तैलाभ्यक्तः क्षिन्ननासो वाग्मी चोन्मत्त एव वा ।
 भग्नोष्ठः खरवाटौ वा न दूतः संप्रशस्यते ॥
 इति दूतसमाचारो व्याधितानां प्रकीर्तितम्(ः) ।
 तमेव वेद निपुणं सिद्धिकामस्मदा भिषक् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो गोमयचूर्णं व्याख्यास्याम इति

ह इह भगवानात्रेयः ।

(शिरश्चूर्णकर्णरक्ततादिभिररिष्टविज्ञानम् ।)

चूर्णं शिरसि यस्यैव शुष्कगोमयसन्निभम् ।
 स्नेहिनो दृश्यते जन्तोः मासाद्देहं जहाति सः ॥
 कृशस्य कफरोगेण यस्य श्लेष्मपरिचितः ।
 कर्णौ रक्तौ मुखं यस्य द्वौ मासौ नातिवर्तते ॥

यस्य लोहितकाभासमम्बु तालुनि दृश्यते ।
 क्षीणलोहितमांसस्य स मांसं नातिवर्तते ॥
 अरुन्धतीं न पश्येत स्थितां सप्तर्षिसंसदि ।
 स मासादष्टमान्तर्यः क्षिप्रं प्राणैर्विसुच्यते ॥
 अनु(ण)काभिश्च कृष्णाभिरास्यं जिह्वा च तालुके ।
 सर्वतः समनुच्छिन्नं न स जीवति तादृशः ॥
 शीर्षाभितापिनो यस्य तेषु रोगस(व)तस्तथा ।
 हिक्काविनिष्यन्दिते वै(-च) नायमस्तीति निर्दिशेत् ॥

(केशदाहादिभिररिष्टविज्ञानम् ।)

यस्य लोमानि केशाश्च पुथ्यन्तीव शरीरिणः ।
 संस्पृष्टा नि(इ)व वा देही न स जीवति तादृशः ॥
 यस्य कालान्तरे दन्ता दृश्यन्ते रक्तसन्निभाः ।
 निष्प्रभाश्चानुलिप्ता वा न स जीवति तादृशः ॥
 क्षारेण विधृतं गात्रं दृश्यते यस्य देहिनः ।
 सममुष्णे च शीते च न स जीवति तादृशः ॥
 गात्रेषु ख(ख)रवर्णेषु यस्य वारिलव(ग)प्लवः ।
 अनभ्यक्तेषु गात्रेषु न स जीवति तादृशः ॥
 शूलमङ्गे भवेद्यस्य स्फुटितं रक्तमास्रवेत् ।
 अधोगोळत(क) सङ्काशं परेतं तस्य जीवितम् ॥
 आपाण्डु मधुमेहं तु यस्य(श्च) मेहति मानवः ।
 अभ्यन्तरेण पञ्चाहात् सुपञ्चत्वं स गच्छति ॥
 अरतिश्चाविवा(पा)कश्च कार्श्यं दौर्बल्यमेव च ।
 यस्य संदृश्यते जन्तोर्न स जीवति तादृशः ॥

(मिथ्यारोगारत्यादिभिररिष्टज्ञानम् ।)

यस्तु दीनमनाथो वा बलेन परिहीयते ।
 मिथ्या(वा) रोगमाप्नोति यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 अनु(र)क्तो यदा जन्तुः पित्तेन परिमूर्छितः ।

समूढवाक्यो भवति यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 यस्त्वासनेऽथ शयने रतिं न लभते नरः ।
 स शीघ्रं कुरुते कालं यश्च साश्रूणि खादति ॥
 अरुह्य वानरं यस्तु सङ्कल्पं नावबुध्यते ।
 तमाहुः परलोकाय सिद्धौ तु कुशला नराः ॥
 परिसंवत्सराद्यस्य ज्वरो नापैति देहिनः ।
 उष्णो वा यदि वा शीतो यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 यस्य जातप्रमेहस्य पिटका पाण्डुरा भवेत् ।
 सोपद्रवा शतपदा यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 यस्योर्ध्वं तपते वायुः श्रोत्रं बाधः प्रवर्तते ।
 सर्वाणि च प्रभिद्यन्ते यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 इत्येतैर्लक्षणैर्युक्तं भिषग् दृष्ट्वैव मानवम् ।
 नोपक्रमेत्तथा वी(धी)र(ः) रक्षन्नात्मयशः स्फुटम् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेळे इन्द्रिये नवमोऽध्यायः ॥

अथातः क्वायाध्यायं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(क्वयाऽरिष्टज्ञानम् ।)

अनु(ण्)क्वायाऽथवा जन्तोर्दृढक्वायाऽथवा पुनः ।
 विच्छिन्ना यस्य वा क्वाया न च जीवति तादृशः ॥

(असाध्यरक्तपित्तलक्षणम् ।)

यो विद्युतमिवाकाशे व्यभ्रे पश्यति मानवः ।
 धूमायते शिरच्छाया यस्य नास्तीति तं विदुः ॥
 लाक्षारक्तं यथा वस्त्रमेवं पश्यति यो महीम् ।
 अथवा रक्तमाकाशं रक्तपित्तेन हन्यते ॥

(असाध्यकासादिलक्षणम् ।)

यो हृष्टरोमा पुरुषः कासेन श्लेष्मणा चितम्(ः) ।
 कन्दश्च शूलानुगतो यस्य नास्तीति तं विदुः ॥
 यस्य शंखात् च्युतं मांसं श्यावे नेत्रे तथैव च ।
 चूर्णकश्च मुखे जातः परेतं तस्य जीवितम् ॥
 यस्य हस्तात् च्युतं मांसं जन्तोर्दृश्येत कुष्ठिनः ।
 अ(त)था वि(नि)प्र(द्रा) नि(धि)युक्तस्य न स जीवति मानवः ॥
 अविपक्तं विपक्तं वा भुक्तं भुक्तं यदा भवेत् ।
 कासश्वासज्वरैः स्पृष्टो नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥
 हृदयं पूर्वमायाति यस्य स्नातस्य देहिनः ।
 अर्धमासात् परं तस्य जीवितं नातिवर्तते ॥
 ऊर्ध्वश्वासाहृतो यस्तु रक्तं प्रच्छर्दयेन्नरः ।
 शूलं वा भिन्नकोष्ठस्य न स जीवति मानवः ॥
 अन्तर्दाहाधिकाद्यस्य शीतश(त)श्चापि बाह्यतः ।
 आकाशं पारिपूर्णं वा वेत्ति यो न स जीवति ॥

(सुमूर्षुशरीरावयवलक्षणम् ।)

यस्य पक्वावुभौ ओष्ठौ नीलौ जम्बू(म्बू)फलोपमौ ।
 उच्छूनं यस्य च शिरः परेतं तस्य जीवितम् ॥
 यस्योच्छूनं भवेन्मध्यं उभावावं(सौ) क्लृणौ तथा ।
 विरक्तः पुनराश्नाति यथा प्रीतस्तथैव सः ॥
 एतदिन्द्रियविज्ञानं यस्म्यगनुपश्यति ।
 स जीवति च मृत्युं च नृणां विद्यात् भिषङ् नरः ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये दशमोऽध्यायः ।

अथातः पुष्पीयं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(पुष्पितलक्षणम् ।)

शिरस्यङ्गे रक्तवर्णं योऽनिलं वाऽपि पश्यति ।
घटिकामेकवर्णं वा स पुष्पित इहोच्यते ॥
अष्टापदं वा सुकृतं जगतीं यः प्रपश्यति ।
स दृष्टिपरिहीनत्वात् पुष्पितः प्रोच्यते नरः ॥
सुप्तश्च संवृते गृहे पश्यत्याकाशमेव यः ।
रोमन्थायति दन्तैश्च स पुष्पित इहोच्यते ॥
दीव्यमानमिवाकाशं पृथिवीं च वनानि च ।
यो वेत्ति रोमसंस्पृष्टः पुष्पित स इहोच्यते ॥
अनुलिप्तो यथा देही वाति चेत् कुणपं यथा ।
सेवन्ते मज्जिकाश्चैव पुष्पितस्त इहोच्यते ॥

(मरणसूचन स्वप्नविशेषाः ।)

अविज्ञाता नरं नारी स्वप्न एव(का) नि(वि)वासिनो ।
दक्षिणां दिशमेहीति यं ब्रूयान्न स जीवति ॥
प्रकीर्णकेशो विकरः स्वप्ने यो दक्षिणां दिशम् ।
प्रतिपद्यति तत्रैव न स जीवति तादृशः ॥
कुशैरिव निरडाङ्गमात्मानं स्वप्न ईक्षते ।
स्वं(स्वं) वा सधूमं यो वेत्ति न स जीवति तादृशः ॥
यः स्वप्ने वृक्षमारुह्य न रोगी त्रायते गृहे ।
प्रकीर्णकेशो विकचः सोऽग्निमारुह्य रोदिति ॥
प्रासादमेकस्थूणं तु स्वप्ने यश्चाधिरोहति ।
नरो नृत्यति पङ्के वा सकु(पु)मान्न च...(जीवति) ॥
स्वप्ने प्रासादमारुह्य महान्तं काञ्चनं तथा ।
यो नृत्तगीतवा...(दित्रो)न स जीवति मानवः ॥

गजनोद्वेगं वा गच्छन् यः पश्येद्वृत्तिणां दिशम् ।
 जीवेत्तु रोगी सप्ताहं नीरोगश्शरदां शतम् ॥
 या... (या) य(द्यो)दुर्दिने वापि स्वप्ने वा दक्षिणां दिशम् ।
 प्रतिबध्येत तत्रैव न स जीवति तादृशः ।
 भासे(सै) बर्हिंवराहैश्च श्वभिर्महिषवाजिभिः ॥
 समं यो तद्दिवा(शं)यो(या)ने(ति)स्वप्ने यागफलं भवेत् ।
 यदा च गण्डं खड्गं च स्वप्ने चाश्वं पश्यति ॥
 प्रकीर्णकेशमपि च न स जीवति तादृशः ।
 यः स्वप्ने पुरुषः कालं पीतं ना(वा)वस्त्रमृच्छति ॥
 गायत्र्यचेष्टयन् वाऽपि न स जीवति तादृशः ।
 यः स्वप्ने पि(वी)तकामे(ऽ)पि पीतां पिबति वारुणीम् ॥
 चित्रकण्ठगुणो वाऽपि न स जीवति तादृशः ।
 आकुलाऽऽयां(पां) नदीं स्वप्ने योऽवगाहति मानवः ॥
 जीवेत् स रोगसप्ताहं विरोगः शरदां शतम् ।
 स्वप्ने स्नातानुलिप्तस्य भ्रंशेद्यस्य तु वर्णकः ॥
 गात्रस्य पुरुषस्नेहं न शस्त्रेण विनश्यति ।
 एतदिन्द्रियविज्ञानं यस्म्यगनुपश्यति ॥
 जीवति(नं) चैव मृत्युं च नृणां विद्याद्विचक्षणः ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये एकादशोऽध्यायः ।

अथातोऽवाक्शीर्षीयं व्याख्यास्याम इति

ह स्नाह भगवानात्रेयः ।

(जीवात्त्रयपूर्वकालिकचिह्नानि ।)

अवाक्चि(शि)ता(रा) वा जिह्वा च यस्य क्वायाऽल्पिका भवेत् ।
 नेत्रे च विषमे स्थातां परेतं तस्य जीवितम् ॥

यदि दो(ली)नानि पञ्चाणि न निमीलन्ति देहि(न): ।
 दह्येते नयने वाऽपि परेतं तस्य जीवितम् ॥
 नमन्ती(न्त्यौ) यस्य दृश्येते भ्रुवो(वौ) मूर्धनि वा स्थितः (ते) ।
 जीवेत्तु स त्य(त्र)हं रोगी षष्ठासान् व्याधिवर्जितः ॥
 लुञ्चग्रमानिषु केशेषु वेदयन्ती(न्न)ति वेदनाम् ।
 विवृत्तमुखदुःखः स्यात् परेतं तस्य जीवितम् ॥
 यस्यातुरस्य पिटका न्य(व्य)ङ्गो वा दृश्यते मुखे ।
 अदृष्टपूर्वं प्रथमं परेतं तस्य जीवितम् ॥
 शुष्यते नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति ।
 अंसेऽनिले कासवतः परेतं तस्य जीवितम् ॥
 अत्युष्णं वाऽतिशीतं वा स्तब्धं वा मृदु वाप्यथ ।
 मन्यते पाणिपादं च परेतं तस्य जीवितम् ॥
 योऽवतीर्य नदीं पूर्णां तोये पश्यति जालकम् ।
 गात्रं लिप्तमथाङ्गिष्ठं यस्य नास्तीति तं विदुः ॥
 विवर्तयति यश्शीर्षमत्यर्थं च न सो(?) नरः ।
 न स्निध्यते ललाटं च नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥
 ज्वर्यते कासते वाऽपि तथोद्ध्वसिति वै दृढम् ।
 आक्रम्यते ताम्यते च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 यस्योदरं समाधा(क्ष)तं तद्वर्मं च विभाव्यते ।
 भिन्नं पुरोषं दृष्ट्वा च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥
 अनाहतं गृहे यस्य कास्यं(श्यं) दध(ह)ति देहिनः ।
 चन्द्रस्तीक्ष्णो मृदुश्चाको यस्य स्यात्तं विवर्जयेत् ॥
 अप्रधातुः प्रधातुर्वा स्वस्थो वाऽय(थ)दिवाकरः ।
 यश्चन्दनमिवावा(भा)ति न स जीवति तादृशः ॥
 यूथिकोत्पन्नगण्डश्च वाति यश्चापि वर्त्मवत्(?) ।
 अभक्तस्तसि मे बाल्यैर्योवाति न सजीवति(?) ॥
 द्विषद्भिः कुरुते सख्यं यः प्रियैर्याति विप्रियम् ।
 अकस्मात्कुप्यते यस्तु परेतं तस्य जीवितम् ॥

एभिरवविधैर्लिङ्गैरन्यैश्चापि यथायथम् ।
 नोपक्रमेत मेधावो भिषगन्वितमारुतम् ॥
 एतद्विषगरिष्टानां यो ज्ञानमनुबुध्यते ।
 यथोक्तं वेद वेदायुः स भिषक् शास्त्रकोविदः ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले इन्द्रिये द्वादशोऽध्यायः ॥

इति भेलसंहितायां इन्द्रियस्थानं समाप्तम् ।

अथ चिकित्सास्थानम् ॥

अथात एकादशसर्पिष्कं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(ज्वरोत्पत्तिः ।)

अकल्पन्न यन्नाङ्गं पुरा दक्षस्त्रिशूलिनि ।
तस्मात् प्रणाशयामास यज्ञं दक्षस्य शङ्करः ॥
तं च नाशयता यज्ञं देव्याः प्रियचिकीर्षया ।
क्रोधनोष्णं विनिश्चस्य तान् लोकान् व्यापितो ज्वरः ॥

(ज्वरगुणाः ।)

स एष सन्तापयति ज्वरगन्थावरजङ्गमम् ।
निधने चापि भूतानां नान्यो हेतुर्विना ज्वरात् ॥
यावन्तोऽन्ये समाख्याताः व्याधयस्तु शरीरिणाम् ।
संवत्सरेण ते घ्नन्ति सद्यः प्राणहरो ज्वरः ॥
रोगानि(नी) कस्य सर्वस्य ज्वरो राजा प्रकीर्तितः ।
ज्वरयत्येष भूतानि तस्मात् ज्वर इति स्मृतः ॥
शरीरमानसानां च रोगाणां प्रद(थ)रो(मी) ज्वरः ।

(ज्वरविभागः ।)

तस्मात् प्रथमतस्तस्य प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ॥
उक्तरूपसमुत्थाना ज्वर(ः)श्चाष्टौ प्रकीर्तिताः ।
शीतश्चोष्णश्च नियत समा(न्त)सा(तोऽ)न्नी(नि)यतो ज्वरः(१) ॥

(समासेन ज्वरचिकित्सा ।)

शीतस्योष्णां क्रियां कुर्याद्वातश्लेष्म(...कफा)त्मक...(नः) ।

उष्णस्यैकान्तपित्तस्य शीतां कुर्यात् क्रियां भिषक् ॥

वायुरामाशयात् पूर्वमूष्माणं समुदीरयत्(न्) ।

त्वग्गतो रोम(ष) मापन्नः संहर्षयति मानवम् ॥

स तु पित्तानुबन्धेन तेजसा परिपाचितः ।

प्राप्नोति विलयं श्लेष्मा सम्बन्धेनैव तोयदः ॥

शान्त(न्ते)शीते पुनर्दाहं पित्तात् प्राप्नोति मानवः ।

उत्पित्तमिन्धनीभूतं पुनर्वर्(र्द)हति पावकः ॥

गतवेगोऽनिलः पश्चादूष्माण(ष्म)णं(णा) परिपाचितः ।

स्वमेव पचते स्थानं अ(त्)नुलोम्यं च गच्छति ॥

एवं ज्वरमवाप्नोति एवमेव च मुच्यते ।

एतद्बुद्धिमतां प्रोक्तं समासेन चिकित्सितम् ॥

(विस्तरेण ज्वरचिकित्सोपक्रमः ।)

दुर्लभा बुद्धिमन्तस्तु तस्माद्वक्ष्यामि विस्तरम् ।

एकादशप्रकारं हि ज्वलि(रि)तानां चिकित्सितम् ॥

सर्पिश्चैकादशं विद्यात् तस्मै विस्तरतः शृणु ।

सिद्धास्त्रि(स्त)ता(था) कषायाश्च लेहः पाचनिकानि च ॥

चूर्णप्रदेहास्त्रेकाश्च वटिका मोदकाः पयः ।

सर्पिश्चैकादशं प्रोक्तं सिद्धमाममथापि च ॥

(ज्वरितस्य पित्तचिकित्सावसरः ।)

एषां प्रयोगं वक्ष्यामि वीर्याणि च पृथक् पृथक् ।

आमाशयं लूषयित्वा मृदुं कृत्वा च पावकम् ॥

रक्तं मांसं च सन्दूष्य देहिनां जायते ज्वरः ।

श्लेष्माणमनिलं चैव जित्वा पित्तं तु देहिनाम् ॥

करोति यस्मादूष्माणं तस्मात् ज्वलि(रि)त उच्यते ।

वायुः पित्तेन संस्पृष्टः श्लेष्मा वा पित्तमूर्द्धितः ॥

ऊष्माणं कुरुते यस्मात्तदा पित्तमुपाचरेत् ।

(पित्तोपशमनार्थमुष्णोदकपानम् ।)

दृश्यते सोष्णसलिलं देयं दोषविपाचनम् ॥
ज्वरघ्नं दीपनीयं च कफपित्तानिलापहम् ।
स्रोतसां शोधनं चैव रुचिन्वे(भे)दकरं नृणाम् ॥
दीप्यमाने हि कायान्नौ(म्नौ) श्लेष्मा वायुश्च शाम्यतः ।
तयोश्चाप्यानुलोम्यत्वान्तत्पित्तमुपशाम्यति ॥
तस्मादुष्णोदकं पेयं श्रेष्ठमाहुनेवज्वरे ।

(शीतोदकपाने दोषाः)

शीतं हि सलिलं तेषां न देयं स्यात् कदाचन ॥
शीतं हि सलिलं पीतं कोपयेत् कफमारुतौ ।
कुर्याद्भूयोऽग्निमृदुतां स्तैमित्यमरुचिं तथा ॥
कामं(च)तिक्त(कैः)स्निग्धं हितं कथितशीतलम् ।

(शीतज्वरचिकित्सोपसंहारः ।)

तेषां सामीकृतं पानं याचाप्यकान्तशीतला ॥
भोजनार्थं हि षड्रात्रं पेया देया बुभुक्षिते ।
क्षुत्पिपासोपहा पथ्या शक्नन्मूत्रानिलादिहा ॥
श्रीणाग्नातकफौ हन्यात् लघुत्वात् परमेव च ।
हृदिधा(द्वि)भुक्तातु सास्त्रेदावपिमारयेत्(?) ॥
तस्मात् ज्वरेषु सर्वेषु ज्वरमुक्ते च मानवे ।
पाय.....।
शीतज्वरहरं कृत्स्नमुक्तमेवं चिकित्सितम् ॥

(ज्वरितस्य भोज्याभोज्यविवेकः ।)

अथ ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भोज्याभोज्यं सविस्तरम् ।
शालयः षष्टिकाश्चैव नीवारास्सप्रमोदकाः ॥
यवान्नविकृतिश्चापि भोजनेषु हिता सदा ।
कपिञ्जलास्सहरिणा वार्ताका कालपुच्छकाः ॥

एणा वर्तिरकाश्चैव जाङ्गला ज्वलि(रि)ते हिताः ।
 सुन्नाढकीमसूराणां सति(ती)नानां तथैव च ॥
 सिद्धास्सूपा प्रशरन्ते यूषाश्च ज्वरनाशनाः ।
 उ(क्त)णप्र(त्री)हीन् सयवकान् सक्तुकान् चित्तकानपि ॥
 माषान् तिलांश्चोष्णवीर्यान् ज्वरितः परिवर्जयेत् ।
 ग्राम्याऽऽसू(नू)पोदकं मांसं त(मौ)तो(र) भे(भ्रं) गव्यमाहिषे(षं) ॥
 छागतीरणवाराहं दधि शुक्तं च वर्जयेत् ।
 पिष्टान्नानि च सर्वाणि शाकानि विविधानि च ॥
 विदाहान्युष्णवीर्याणि ज्वरितः परिवर्जयेत् ।
 बर्हिणस्तिरिक्त्रिक्रौञ्चान् कपोतान्न(व) च(न) कुक्कुटान् ॥
 पञ्चैतान्विष्किरानुष्णान् ज्वरितः परिवर्जयेत् ।

(ज्वरितस्य वमनादिकालः ।)

र(व)मने च वि(रे) के च स्नेहने लङ्घने तथा ॥
 प्रोक्ता मे ज्वरिणः कालाः(ः) सूत्रस्थाने न(स) विस्तराः ।

(ज्वरितस्योत्साहार्थं कथादिकथनावश्यकता ।)

अमात्याश्चालयश्चापि सुहृदश्चानुशासिनः ॥
 हन्दीक्षा मतिसंपन्नाः(शास्त्र)ज्ञानेषु कोविदाः ।
 ते वदेशुः कथाश्चित्रा धर्मकामार्थसंहिताः ॥
 आतुरस्य विनोदार्थं तन्द्राशोकविनाशनाः ।
 दारुणाश्च मनोज्ञाश्च नरप्रीतिविवर्धनाः ॥
 पित्तव्याधिपरीतानां कथाश्च परिवर्जयेत् ।
 उत्साहमेव जनयेदातुरस्य चिकित्सकः ॥
 उदग्रस्य हि भैषज्यममृतत्वाय कल्पते ।
 चन्द्राननाः पीनकुचाः सुरम्भाः शुक्लवाससः ॥
 रुजाक्लमविनाशार्थं उपासीनाश्च योषितः ।

(ज्वरितवर्जनीयानि ।)

अत्याशनमतिस्थानमतिचक्रमणानि च ॥

ज्वरितो वर्जयेन्नित्यं प्राणाव्रक्ष्य सर्वशः ।
क्रोधं स्त्रियं चक्रमणं दिवा स्वप्नादि भीषणम् ॥

(ज्वरपुनर्भवनिमित्तम् ।)

गुरुण्यध्वविरुद्धानि व्यायामो वेगदारुणम् ।
प्रदुष्टो मारुतः पानं निशि जागरणं च यत् ॥
कारणान्युपशान्तस्य ज्वरस्य प्रभवे पुनः ।
नखै(चै)नं ना(स्त्रा)पयेज्जन्तुः सहसा ज्वरकर्षितम् ॥
सन्दूषितां तस्य तनुं पुनरावर्तते ज्वरः ।
महेश्वरः(र)क्रोधभवो ज्वरः प्रोक्तो महर्षिभिः ॥

(ज्वरशान्त्यर्थं पूजाहोमादिः ।)

तस्माज्ज्वरविमोक्षार्थं पूजयेद्दृषभध्वजम् ।
स्नानादिशान्तयो होमा व्रतानि नियमो यमः ॥
र(श)स्यन्ते चेष्ट(ष्ट)यः काम्या वेदोक्ता ज्वरनाशनाः ।
रोगाधिपतिरुग्रो(ग्रौ)जाव्याधीनां प्रसजो ज्वरः ॥
सर्वभूतान्तको घोरो हताशात्मा ज्वरः स्मृतः ।
प्रसङ्ग्या(त्) दुश्चिकित्स्यः स्यात् भिषग्भिः पापसंभवः ॥
तस्माद्दे(दे)हो(दो)ल्यितैर्मन्त्रैर्होमैश्च विनिवर्तयेत् ।
दू(भू)तविद्यासमुत्पन्नं चण्डकर्म ज्वरापहम् ॥
तत्कार्यं भूतवैद्येन तथा नाविशत(ति)ज्वरः ।
रुद्रभक्तेन शुचिना वैद्येनाथ तपस्विना ॥
प्रयतेन प्रयोक्तव्यं चि(शी)तज्वरचिकित्सितम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातो विषमज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(विषमज्वरनिमित्तविचिकित्सा ।)

केचिद्वातात्मका(कं) प्राहुः भिषजो विषमज्वरम् ।

सन्निपातोद्भवं केचिदपरे पित्तसंभवम् ॥

श्लेष्मजं त्वपरे प्राहुः अपरे भूतसंभवम् ।

जन्मनक्षत्रपीडाभिरपरे दैवचिन्तकाः ॥

ई(दृ)शोऽत्र विकाराणां मतयोऽथ पृथग्विधाः ।

(विषमज्वरस्य सन्निपातोद्भवत्वम् ।)

सन्निपातोद्भवं ह्येतदहं वक्ष्यामि हेतुभिः ॥

पक्षाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतं(तः) तथा ।

कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च ॥

स गम्भीरसमुत्पन्नस्थानतन्त्रयो महान् ।

अन्येदुष्कै(ष्क) का(स)न्तरि(त)ता(कं) कुर्याद्वापि

चतुर्वि(र्थ)ध(क)म् ॥

(विषमज्वरेण धातुदोषक्रमः ।)

मज्जानमस्थि मेदश्च दूषयेत् प्रथमेऽहनि ।

द्वितीयेऽहनि संप्राप्ते दूषयेन्मांसशोणितम् ॥

ततस्तृतीये दिवसे दूषयेत् कफमारुतौ ।

अभिगम्य तप(तः)श्चि(पि)त्तं दूषयेत्तु चतुर्थके(कः) ॥

ज्वरोऽयं प्राणिनां देहे रौद्रो माहेश्वरस्तथा ।

प्रयतेत प्रशन्तौ तु तस्मादस्य विचक्षणः ॥

(विषमज्वरे शोषोपचारः ।)

गम्भीरस्थानं संभूतो धौतसङ्कर दूषितः ।

तस्माच्चतुर्थको नाम म(यं)श्चि(चि)कित्सेत मोहतः ॥

शोषयत्येष भूतानि दारुणो विषमज्वरः ।
तस्माच्छोषोपचारेण कुर्यात्तस्य चिकित्सितम् ॥

(स्नेहनादि चिकित्सा ।)

त्रिफलाधीतसिद्धेन घृतेन मतिमान् भिषक् ।
स्नेहयेत्तं यथान्यायं युक्त्या वि(वृ)षघृतेन वा ॥
स्त्रंसयेत्तमधोभागं यथा व्याधिव्रलाबलम् ।
दोषेष्वामाशयस्थेषु कारयेदमनं भिषक् ॥
आस्थापनं च कुर्वीत तथाचाप्य(नु वासनम्) ।

(महापञ्चगव्यघृतम् ।)

(१) एतन्महापञ्चगव्यं विख्यातं सर्पिरुत्तमम् ॥
चतुर्थकं मोक्षयति मन्त्रसिद्धियुतो यदा(था) ।
श्वयथुं पाण्डुरोगं च प्लीहानं सभगन्धरम् ।
उदराणि तथा गुल्मान् कामिलां चापकर्षति ॥

(पञ्चगव्यघृतम् ।)

शकद्रसं पयोमूत्रं दधि सर्पिश्च पाचयेत् ।
तत्पञ्चगव्यं शमयेत् श्वयथुं पाण्डुताज्वरम् ॥

(वृषघृतम् ।)

समूलपत्रशाखस्य शतं कृत्वा वृषस्य ते ।
जलद्रोणे विदग्धव्यं अष्टभागावशेषितम् ॥

- (१) इ पञ्चमूली त्रिफला रजनी कूटजलचम् ।
सप्तपर्णसपासार्गं नीलिनौ कटुरोहिनीम् ॥
शय्याकं फलमूलं च पौष्करं सदुरालभम् ।
द्विपलानि जलद्रोणे पक्ता पादावशेषिते ॥
भांगी पाठां चिकटुकं विवतां निचुलानि च ।
श्रेयसीसाढकौमूर्धां दन्तीं भनिम्बचितकी ॥
इ शारिरे रोहिषं च भूतीकामदयन्तिकाम् ।
चिपेत् पिष्टाक्षमावाणि तैः प्रस्थं सपिषः पचेत् ॥
गोशकद्रसदध्यस्त्रं चौरमूत्रैश्च तत्समैः ॥

गर्भेण वृषपुष्पाणामाढकं सर्पिषः पच(चेत्) ।
तत्सिद्धं पाययेद्युक्त्या मधुपादसमन्वितम् ॥
कासं श्वासं पाण्डुरोगं तृतीयकचतुर्थकौ ।
रक्तपित्तं क्षयं चैव वि(वृ)षसर्पिर्नियच्छति ॥

(पञ्चकोलघृतम् ।)

नागरं सैन्धवं चय्यं पिप्पलिच्छारचित्त्वकौ ।
तेषां (तु) पलिकैर्भागैः घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
क्षीरप्रस्थेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ।
एतेन गुल्मा शाम्यन्ति कुष्ठानि जठराणि च ॥
ज्वरे च विषमे पेयं प्लोहश्चयथ देहिनाम् ।
शूलं पाण्ड्वामये चैव ग्रहणो दीपनेषु च ॥
जर्ध्वाताश्च ये केचित्कर्षणामौषधं परम् ।

(दूषणादि घृतम् ।)

दूषणं चिचकं हिंस्त्रा विलङ्घानि हरीतकीम् ॥
विभौतकान्यामलकं चिरिविल्वत्वचं तथा ।
द्वैतानि समांशानि श्लक्ष्णान्यक्षसमानि च ॥
तैः पाचयेद्घृतप्रस्थं सम्यक् क्षयान्घ(वृ)ङ्गु(त्त)णै(ये) ।
गृ(ग्र)हणी दीप्यते तेन वातगुल्मश्च शाम्यति ॥
अर्शनां(सां) शमनं चैव गुड(द)शोफे च पूजितम् ।
एतदेव हि वै श्रेष्ठमुदावर्तं घृतं भवेत् ॥

(महापद्म तैलम् ।)

दर्भवेतसमूलानि चन्दनं मधुकं बला ।
फेनिला पद्मकीशीरे उभे च कमलोत्पले ॥
किंशुकश्चैभि भागाःस्युः पृथक् पञ्चवतीनकाः (?) ।
ब(ज)लद्रोणे विपक्षव्यं चतुर्भागावशेषितम् ॥
जीवकर्षभकां मेदां लोध्रलामज्जकं तथा ।
कालेयकं सप्रियसं दद्यात् केसरमेव च ॥

त्रिपुण्डरीकं लोभ्रं च पद्मकं पद्मकेसरम् ।
 सुरभिं कुङ्कुमं चैव मञ्जिष्ठां मदयन्तिकाम् ॥
 माचीपत्रं च तुल्यानि द्विगुणं कुङ्कुमं भवेत् ।
 चतुर्गुणं च मञ्जिष्ठां सौवीरं स्नेहसम्मितम् ॥
 तैलप्रस्थं पचेत्तेन कषायेनार्धपेषितम् ।
 एतदभ्यञ्जनं तैलं विषमज्वरनाशनम् ॥
 महापद्मसमाख्यातमेतत् सर्वज्वरापहम् ।
 वातपित्तोद्भवं क्षिप्रं ज्वरमेतन्नियच्छति ॥

(महापैशाच घृतम् ।)

त्रायमाणां जयां वीरां नाकुलीं गन्धनाकुलीम् ।
 कायस्थां च पयस्थां च ची(चो)रकं स फलंकषम् ॥
 छत्रारि(ति) छत्रजटिलां सूकरं(री) क(म)र्काटिं(टीं) तथा ।
 आरलिं(टीं) पूतनां केशीं वचां कटुकरोहिणीम् ॥
 महापुरुषदन्तां च वृश्चिकालीं कलु(टु)म्भ(भ)राम् ।
 सिद्धमेतद् घृतं पेयं चातुर्थकविनाशनम् ॥
 महापैशाचिकं नाम सर्पिरेतज्ज्वरापहम् ।
 भूतग्रहानपस्मारा(नु)न्मादांश्चापकर्षति ॥

(त्रायमाणादि प्रदेहः ।)

एतैरेवौषधगणैः प्रदेहं कारयेद्भिषक् ।
 धूपयेज्ज्वरितं चैव तदा संपद्यते सुखम् ॥

(स्नानहोमादिकम्) ।

बलयश्शान्तिकर्माणि होमस्वस्थयनानि च ।
 स्नानानि चोपवासश्च शमयन्ति चतुर्थकम् ॥
 स्नष्टारं चास्य रोगस्य भूताधिपतिमच्युतम् ।
 पूजयंश्चापि गच्छेच्च श्मशाने वृषभध्वजम् ॥

भूतविद्यासमुत्पन्नैर्ब(र्व)न्ध(न्द)नैस्साधनैरपि ।
होमैर्बलिविधानैश्च नाशयेद्विषमज्वरम् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(रक्तपित्तनिमित्तानि ।)

जर्ध्वश्चाधश्च मर्त्यानां रक्तपित्तं प्रवर्तते ।
अध(त)स्तद्विविधा प्रोक्ता चिकित्सा रक्तपित्तिनः ॥
अत्यम्ललवणो(णा)हारात्सततातपसेवनात् ।
उपवासो(सात्) भ्रमात् वासादिरुद्धाद्यशनादिभिः ॥
तिलपिण्याकशकानां तथा पिष्टकृ(शृ)तस्य च ।
पित्तलानां च सर्वेषां मत्स्यादीनां च सेवनात् ॥
जर्ध्वं चाधश्चकं(रं) पित्तं रक्तपित्तं प्रवर्तते ।

(रक्तपित्तलक्षणम् ।)

घ्राणकर्णाक्षिमुखतः पायुतो मेदृतस्तथा ॥
निष्ठौवति सरक्तं च तिक्तमम्लमथापि वा ।
न च तत्वे(त्प)तितं भूसौ भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥
मक्षिका वापि तिक्तत्वात् शुष्कं पित्तं च लक्ष्यते ।
सन्दह्यते दूयते च कण्ठस्ता(लुः) च शुश्रूति ॥
लोहगन्धिमुखं चास्य कण्ठे(र) धूमायते तथा ।
एतान्येव त्वधोभागे लक्षणान्युपलक्षयेत् ॥

(साध्यासाध्यविवेकः ।)

उर्ध्वभागं तु साध्यं स्यादधो वै याप्यमुच्यते ।
सर्वस्त्रोतः प्रवृत्तं तु रक्तपित्तं न सिध्यति ॥
रक्तपित्तमधो भावे(गे)हृदंस्त्रोत(स्त्र)मुपाचरेत् ।

(रक्तपित्तपूर्वरूपाणि ।)

स्त्रप्रेषु नित्यं पश्यन्ति शुष्कान् दग्धान् पादपान् ॥
लक्ष्मणा अथकेशाश्च समङ्गो प्रेथभोजने (?) ।
रोमाणि मूर्धजाश्चास्य विवर्धन्ते विशेषतः ॥
अवकुण्ठनशीलश्च रहः कामीत्यकोपनः ।
जुगुप्सातु(लुर)मर्षी च स्त्रीकामो दुर्बलेन्द्रियः ॥
उचिता ह्यीयते ह्याया तालुशोषश्च जायते ।
नानास्त्रा(स्त्रा)वः प्रतिश्याया स्वरभेदशिरोरुहः ॥
जरू च स्त्रे(स्त्रि)द्यतोऽत्यर्थं हानिश्च बलवर्णयोः ।
शिरसः परिपूर्णत्वं हस्तपादौ च दुष्यति ॥
अरुचिश्चाविपाकश्च मूर्च्छा श्वासो मृदुज्वरः ।
क्षतोरस्कश्च कासेन निष्ठीवति सशोणितम् ॥
एतानि पूर्वरूपाणि यक्ष्मिणां कीर्तितानि च ।
षट् चैकादश चीत्तानि शुथतस्तानि लक्षयेत् ॥

(चिकित्स्याचिकित्स्यविवेकः ।)

उच्छ्रितोपद्रवं मौनं पूर्वरूपैरभिद्रुतम् ।
प्रक्षीणबलमांसं च न चिकित्सेद्विशोषिय(ण)म् ॥
अल्पोपद्रवसंयुक्तं अचिरोपद्रवोल्लितम् ।
द्रव्यवन्तं वयस्थं च प्रत्याख्येयं न वै विदुः ।
अथास्यानुमतं पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ।
यदधोत्य भिषग् युक्त्या यशस्वर्गमवाप्नुयात् ॥

(शोषिलक्षणं तच्चिकित्सां च ।)

शोषी नित्यजुगुप्सालुः सुखशीलश्च मानवः ।
लोलो वृष्टा निक्लृष्टानां वैद्य भेषज्यकुत्सकः ॥
तस्मात्तस्यानुकूलेन भिषजा श्व(स्व)जनेन च ।
असंभ्रान्तेन युक्तेन प्रयोक्तव्यं चिकित्सितम् ॥
शोषिणो यो(व)व(लि)नस्तस्य पञ्चकर्म विधीयते ।
तदेव क्षीणमांसस्य प्रयुक्तं विषमं भवेत् ॥

(शोषिणो भोज्यानि धान्यानि ।)

तस्य संशुद्धकायस्य भोजनान्युपकल्पयेत् ।
कलमान् दीर्घशूकांश्च रक्तशालीन् सषष्टिकान् ॥
यवान्नविकृतीश्चापि जाङ्गलांश्च मृगहिजान् ।
भोजनेषु प्रशंसन्ति मुद्गान् सूपार्ध(ङ्ग)मेव च ॥
संवत्सरस्थितं धान्यं भोजने शोषिणां हितम् ।
तद्वि वीर्यादहीनं स्यामांसं सद्योहतं च यत् ॥

(शोषिणो भक्ष्यानि मांसानि ।)

विशेषतश्च मांसानि क्रथ्यादबलवासिनाम् ।
शोषी नित्यं निषेवेत मद्यानि विविधानि च ॥

(शोषस्वभावः ।)

श्लेष्मा देहे विवृष्टेऽपि वायुना सुसमीरितः ।
पित्तं रक्तं च सन्दूष्य स्त्रोतांसु(स्यू)र्ध्वं कृण्वति हि ॥
ते परस्परसंरुद्धा धातवः पवनेरिताः ।
कफप्रधाना रुन्धन्ति सर्वा रसवहास्मिराः ॥
त(य)द्वा ता रसवाहिन्यः शीता ह(हृ)र(द)यवाधकाः ।
रसमाहारजातानां न वहन्ति यथा पुरा ॥
तस्य भुक्तं न रक्ताय न मांसाय च कल्पते ।
न च मेधो(दोऽ)स्ति(स्थि) सु(म)ञ्जे(ज्ज)भ्यो न शुक्लत्वाय
देहिनाम् ॥

तेषामवृद्धधातूनां बद्धानां रसनेष्वधः ।
 भुञ्जानानामपि सरीगाणि गात्राणि देहिनाम् ॥
 हेतुना तेन शुष्यन्ति शुष्यतां शोषव(य)न्ति च ।

(शोषे क्रव्यादमांसस्य मद्यस्य च विशेषः ।)

एतत् शोषस्य शोषत्वमुक्तमाहुर्मनीषिणः ॥
 सत्त्वेष्वतिप्रमाथित्वं व्यालकर्म यथापदौ (?) ।
 मांसान्यपि तथा तेषां स्त्रोतोभिर्विर(च)च(र)त्य(न्य)पि ॥
 क्रोधयन्ति प्रमाथित्वात् स्त्रोतांसि ग्रथितान्यपि ।
 तस्मात् क्रव्यादमांसानि शोषीय(ः सोऽ)वशीलयेत् ॥
 रहस्यमेतद्वैद्यानां उपदिष्टं चिकित्सकैः ।
 मद्यं क्रव्यादमांसं च शोषिणाममृतोपमम् ॥

(वृकादि मांसस्येणादिमांसव्यपदेशेन दापनम् ।)

वृका शृगाला ऋक्षोश्च सिंहव्याघ्रस(रोष्ट्र)काः(पाः) ।
 एणशब्देन दातव्या नानाद्रव्याभिसंस्मृताः ॥
 गृध्रान् सहंसानुलूकान् मण्डूकान् श्येनवायसान् ।
 दद्याद्वर्हिणशब्देन मद्यं च नियतं पिवेत् ॥
 आशुमार्जारलोमांश्च द्विजिह्वान् शल्यकानपि ।
 नकुलानलचूडांश्च भक्षयेपि(द्धि) सुसंस्कृतान् ॥
 अन्यमांसापदेशेन मांसान्येतानि दापयेत् ।
 जुगुप्सया वा वमति वा (वि)पाकेत्यवहितं भवेत् ॥
 तस्माद्रहस्यसिद्धानि मांसान्येतानि भक्षयेत् ।

(क्रव्यादादि घृतम् ।)

विलेशयक्रव्यभुजां भिषङ् मांसानि लाभतः ॥
 तोयद्रोणेषु दशसु तुलामथ विपाचयेत् ।
 अष्टभागावशिष्टं तु रसं विस्त्रावयेद्विषक् ॥
 गर्भेण जीवनीयानां सर्पिर्द्रोणं विपाचयेत् ।
 तत् पिबेन्मात्रतस्सर्पिर्मांसं तेनैव साधयेत् ॥

कासं श्वासं सहद्रोगं ज्वरं पार्श्वरुजामपि ।
श्वयथुं स्वरभेदं च शोषिणामपकर्षति ॥

(पञ्चमूल्यादि रसायनम् ।)

पञ्चमूलि(ली)म(था)ऋत्वां गोलौमीं मधुकं बलां ।
विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागावशेषितम् ॥
तत्कषायं(य) जलं(ले) पूर्वा(र्व)ष्टतप्रस्थं विपाचयेत् ।
चतुर्गुणेन पयसा जीवनीयैश्च वि(वै)षमैः ॥
विदार्यामलकानां तु तथैवेक्षुरसस्य च ।
दद्याद्भृतसमान् भागान् तत् पचेन्मृदुनाऽग्निना ॥
रसायनमिति ख्यातं तत् सर्पिश्च क्षयापहम् ।
हृद्रोगक्षतकासानां क्षयानां च निवारणम् ॥

(गुडसर्पिर्मोदकादिः ।)

अतस्सर्पिर्गुडं कुर्यात् शर्करामधुसंयुतम् ।
गोधूमचूर्णेन सह मोदकान् वापि कारयेत् ॥
पूर्वांक्षेषु विकारिषु शोषिणाममृतोपमम् ।
क्षीरानुपानभक्ष्यास्ति(सु) मोदका बलवर्धनाः ॥
मद्यानुपानाः सेव्यास्ते शोष(ः) श्लेष्माधिको यदि ।

(श्लेष्माधिकशोषे तिल मोदकाः ।)

प्रस्थार्धं दौ(धौ)तलुचितं तिलानां कल्कपेषितम् ॥
तौयप्रस्थेन संयोज्य ष्टतप्रस्थं विष्य(पा)चयेत् ।
अथ सिद्धं च पूतं च पुनस्तद्विपचेद्भृतम् ॥
सहक्रव्यादमांसेन क्षीरेणैव च सर्वशः ।
बिल्वमात्रेण पिण्डेन भा(पा)वनेव(न) सदाशुना ॥
जाङ्गलेन च मांसेन सुकृ(शृ)तेन विधानवि(व)त् ।
अथ सिद्धं च पूतं च पुनरग्नावधिश्रयेत् ॥
प्रस्थेन पयसा सार्धं सम्यगिक्षुरसाढके ।
विदारीं सुन्नपर्णीं च माषपर्णींङ्गसेरुकम् ॥

शृङ्गाटकमृणालानि पद्मबीजं सजीवकम् ।
 क्षीरशुक्लां समृषकां(भां) मोदां समधुकां तथा ॥
 पयस्यां क्षीरकाकोलीं कन्दं नीलोत्पलस्य च ।
 सह तालकदम्बेन कल्कास्तानक्षसम्भितान् ॥
 तस्मिन्नालोद्य तत्सर्वं विपचेन्मृदुनाग्निना ।
 तस्मिद्धं स्नाययित्वा तु निर्वातं स्याद्यथामृतम् ॥
 ततः प्रा(प)णा(श्वा)र्घ(ह्व)नीभूतं खे(ख)जेनाभिप्रमथयेत् ।
 अथात्र शर्कराचूर्णं पञ्चा(श्वा)त्पि(प)लकसम्भितम् ॥
 मथ्यमानं ततो दद्याद्दत्त्वा दत्त्वा च मन्ययेत् ।
 गन्धार्थं चात्र दीयं स्यात् चूर्णं त्वज्जा(ङ्ना)न(ग)पुष्पयोः ॥
 एकोभूतं तथा रात्रिमेकोपरि वसेदथ ।
 अक्षप्रमाणसंस्थानाः कार्यास्तु मोदकास्तदा ॥
 यवगोधूमचूर्णाभ्यां तुगाक्षैर्यवचूर्णताम् ।
 भक्षयेन्मोदकाम् काले क्षीरपानं पिबेत् पुनः ॥
 यच्छ्राणं शमयन्त्येते वृक्षामि(नि)न्द्राशनिर्यथा ।
 असृग्धरं क्षतं क्षीणं हृद्रोगं विषमज्वरम् ॥
 उन्मादं रक्तपित्तं च कासं चैतेन साध(द)येत् ।

(अश्वत्थ मूलादिमोदकः ।)

अश्वत्थस्याथ मूलानि शृङ्गानि सफलानि च ॥
 शतावरीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिका(म्) ।
 गोलोमीं श्रेयसीं कालां शारिवां स पुनर्नवाम् ॥
 क्षीरद्रेणेषु दशसु कुट्टितानि विपाचयेत् ।
 त्वक्षि(क्क्षी)तं(रं) शीतलं पूतं खजि(जि)नाभि प्रमथयेत् ॥
 यत्तत्र सर्पिर्जायेत तद्.....विपाचयेत्-(?) ।
 भैषज्यानि च पिष्टानि तत्रेमानि समाचरेत् ॥
 मधुकं मधुलि(ली)द्राक्षां मेदां वृषभजीरकौ ।
 तालमज्जास्सलामो(म)चं(ज्जं) तथा पुष्करजी(बी)जकम् ॥

जीवन्ति(न्तीं)त्रायमाणां च मधुकानि कशेरूकाम् ।
 नीलोत्पलं पुण्डरीकं वार्ताकानपि चोच्चटाम् ॥
 काश(श्म)र्यामलकेक्षूणां विदार्या स्वरसस्थ वा ।
 तस्मिन् दापयेत् पूतं कलशे राजते दृढे ॥
 तुलार्धं शर्करायाश्च दत्त्वा चैवाभिमन्थयेत् ।
 पलिकां च तुगाक्षीर्याः प्रस्थं प्रस्थं च माक्षिकात् ॥
 अम(म्)गुप्ताफलं(लस्य) स्याद्गुडस्य मरी(रि)चि(च)स्थ च ।
 उच्चधि(टे)क्षुरसाभ्यां च द्वौ प्रस्थौ तत्र दापयेत् ॥
 त्वगेलानागपुष्पाणां चूर्णं तत्र प्रदापयेत् ।
 वळि(टि)कान्मोदकान् कृत्वा स्थापयेन्मृगमयेन वै ।

(उक्तवटिकादिसेवनार्थं परिमाणगुणादयः ॥)

अश्लीयात्तत्फ(प)लं काव्यं सायं भूयःव(प)लं नरः ॥
 शयनं मृदु सेवेत ब्रह्मचारी समाहितः ।
 कर्मणाग्नेन नियतं यच्चाणमपकर्षति ॥
 संवृह्यति पुष्पं(ष्ट') च पुरुषं दुर्व(व)ते(ले)न्द्रियम् ।
 वाजीकरणमप्येतं(तत्) नराणां क्षीणरतसाम् ॥
 स्त्रीभिर्हता भारहता जीर्णाश्चातीतयौवनाः ।
 क्षीणमांसा क्षीणबला ये चादक्षिणशोणिताः ॥
 पित्तरोगे रक्तपित्ते शोषे दोषज्वरे तथा ।
 हृतेन्द्रिया नष्टशुक्ला रक्तकण्ठाश्च ये स्मृताः ॥
 अशक्त(ः) मन्दकाये(याः) च नाति(पु)ष्टेन्द्रिये(या) नराः ।
 पुनर्नवा(वाँ)स्तान् कुरुते योगो(ऽ)यममृतोपमः ॥
 अपस्मारानथोन्मादान् हृद्रोगानपि तन्द्रिकाम् ।
 तेजोवाऽपहृतं तेषां भूतधर्मेण केनचित् ॥
 क्षीरानुपानात्तन्वन्ति सद्यःशोषं हि मोच(द) काः ।
 न्या(व्या)कुलाद्यत्र धातूनां शोषिणां मन्ददेहिनाम् ॥
 अपि योगशतेनापि दुःखमेव चिकित्सितम् ।
 तस्माद्रसायनविधिं वर्धमाने क्षये भिषक् ॥

संवत्सरं स(श)रभृ(ट्ट)तुमयनं वा समाचरेत् ।

(१)पिप्पलीवर्धमानं.....

.....प्रशस्तं वस्तिकर्मणि ॥

(सुकुमारतैलम् तद्गुणाश्च ।)

वातव्याधिषु सर्वेषु क्षतक्षीणे शिरोग्रहे ।

पार्श्वशूले प्रमेहे च गुल्मेना(सा)शोभगन्धरे ॥

च्युतभग्नाङ्गहीनानां कासे श्वासे च हृद्ग्रहे ।

ज्वरातिसारिष्वरुचौ कर्णभेदे स्वरक्षये ॥

(२)सुकुमारमिदं तैलं बालवृद्धसुखावहम् ।

एतद्धि वृष्यं बल्यं च मां(र)स(क्त)मांसविवर्धनम् ॥

स्वरवर्णकरं चैव शोषिणाममृतोपमम् ।

निष्पकं(क्तं) चास्य तैलस्य सम्यक् सिद्धस्य यो(यत्) भवेत् ॥

(१) क्रमव्या दशाहानि दशपैपलिकं दिनम् ।

वर्धयेत् पयसा सार्धं तथेवापनयेत् पुनः ॥

जीर्णे जीर्णे च मंजीतं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ।

पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम् ॥

पिष्टास्ता वलिभिः सेव्याः शृताः मध्यबलैर्नरेः ।

शैतीकृता ऋषबलैर्योग्या दीषामयान् प्रति ॥

दशपैपलिकः श्रेष्ठः मध्यमः षट् प्रकीर्तितः ।

प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः ॥

बृंहणं स्थैर्यमायुष्टं श्रौहोदरविनाशनम् ।

वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम् ॥

इति चरक संहिता--चिकि-१२शाध्याये पिप्पलीवर्धमानरसायनप्रयोग उक्तः ।

(२) मधूकस्य शतं द्राक्षा खजूरानि परुषकम् ।

मधूकौदनपक्वौ च प्रस्थं सुक्ष्मातकस्य च ॥

काश्मर्यादकमित्येतच्चतुर्द्रोणि पचेदपाम् ।

शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलाढकं पचेत् ॥

कथामलक काश्मर्यविदारौक्षुरसैः समैः ।

चतुर्द्रोणि पयसा कल्कं दत्वा पलोन्मितम् ॥

कदम्बामलकाक्षोट पद्मबीजकशेरुकम् ।

शङ्काटकं शङ्खविरं लवणं पिप्पलीं सितां ॥

उदश्विदिव दध्यर्थं सोऽपि कृत्यकरो भवेत् ।
एकादश च षट् चैव शोषिजं(णां) य उपद्रवाः ॥
सुकुमारं प्रशमयेत् मेघोऽग्नीनिव वृष्टिमान् ।

(शतपाकसुकुमारतैलं तद्गुणाश्च ।)

लुच्चितानां तिलानां तु तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥
पलं तु मधुकस्यात्र गर्भं क्षीरं चतुर्गुणम् ।
मृदुवा(पा)कि(क)च्च तस्मिन् भूय एव विपाचयेत् ॥
चतुर्गुणेन पयसा मधुकस्य फ(प)लेन च ।
एतेन विधिना चैव मधुकस्य शते(तं) पचेत् ॥
शतकृत्वा(त्वः) विपक्तं(क')(तु)शतपाकमिति स्मृतम् ।
पानाभ्यञ्जननस्थेषु वस्तौ व्यञ्जनसाधने ॥
भोजने चासृतप्रस्थं नराणां राजयक्ष्मिणाम् ।
हृद्रोगं तालुशोषं च पार्श्वशूलं प्रतान(नि)क(का)म् ॥
तृणामुन्मादवीसर्पं कासं श्वासमसृग्धरम् ।
रक्तपित्तं प्रवृद्धं च सर्वतो भागमूर्च्छितम् ॥
कामिलां पांडुरोगं च पानादेतन्नियच्छति ।
मुखवा(पा)काक्षिवा(पा)कौ च वाधिर्यं कर्णवेदनाम् ॥
नक्ताभ्यं तिमित(रं) काचं लिङ्गनाशं...राचयम्(?) ।
विडालिकां पूतिनस्थं शिरोरोगं शिरोग्रहम् ॥
नस्यः(स्थं) कृतः(तं) ग्रणं(णु)दति खातित्यं पलितानि च ।
अधोभागे रक्तपित्ते रक्तार्शः(ः)सु भगन्धरे ॥

जीवनीयेषु संसिद्धं चौद्रप्रस्थेन संसृजेत् ।

नस्याभ्यंजनपानेषु वस्तौ चापि नियोजयेत् ॥

वातव्याधिषु सर्वेषु मन्थासंभे हनुयद्दे ।

सर्वाङ्गकाङ्गवाते च चतुर्गुणे चतुर्गुणे ॥

सुकुमारकमित्येत् वातास्त्रामयनाशनम् ।

स्थिरवर्णकरं ह्ये तदारोग्यवत्पुष्टिदम् ॥

इति चरक संहिता २८ अध्याये वर्तते । तत् सर्वमवानुसन्धेयम् । यतोऽवापूर्णः सुकुमारतैलः
प्रयोगी दृश्यते इति सूचते ।

सर्वगात्रगते वाते रक्तपित्तसमुद्भवे ।
 अग्रजासु च नारीषु पुंसां नष्टे च रेतसि ॥
 जानुत्रिकविकृजेषु प्रशस्तं वस्तिकर्मणि ।
 ब(स)ह्म(हा)वरोधा स्त्रीनित्याः तेषां वृथ्यतमं मतम् ॥
 (सहस्रपाकसुकुमारतैलं तद्गुणाश्च ।)

प्रयोगिणं प्रयुक्तं च रसायनमनुत्तमम् ।
 सहस्रपाकमित्येतत्कल्पे नैतेन साधयेत् ॥
 रसायनमिदं प्राहुः नृणां वर्षसहस्रकम् ।
 अश्वगन्धा ह्यपामार्गा नाकुली गौरसर्षपाः ॥
 तिला बिल्वं च कल्कं स्यात्तत् क्षयोन्मर्दनं परम् ।
 शोषशान्त्यर्थं होमाद्यावश्यकता ।

मङ्गलाचारसंयुक्तो भवेत् स्वस्थयनो नरः ॥
 ज्ञानानि शान्तिहेमांश्च शोषो नित्यं समाचरेत् ।
 दृष्टयो वेदविहिता नाशना राजयक्ष्मणः ॥
 तांश्च नित्यं निषेवत पूजयेद्वृषभध्वजम् ।
 उपद्रवाश्च ये शोषे षट् चैकादश चोदिताः ॥
 तेषां चिकित्सितं कुर्यात् यथास्वे स्वे चिकित्सिते ।
 इत्येवं प्रयतेनोक्तं राजयक्ष्म चिकित्सितम् ।
 यशःस्वर्गकरं पुण्यं शिष्याणामर्थसिद्धये ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते चतुर्थोऽध्यायः ॥(१)

(१) मातृकायामत्र इति चतुर्थोऽध्याय इति पुनः प्रकारणान्तरसमाप्ति इति सप्तमोऽध्याय इति च लिखितं दृश्यते । तृतीयाध्यायस्य समाप्तिः कुत्र स्यादिति विचारण्यायां एतत् प्रतिभाति यत् शोषिल-
 चक्षारंभात् पूर्वं चिकित्साचिकित्स्यविवेक समाप्तानन्तरं सुद्रित भेल संहितातां १२६ तमपृष्ठे तृतीया-
 ध्यायसमाप्तिरिति । पंचमषष्ठाध्याययोः समाप्तिस्थानं तु तत्रैव घट्टे भाविनि निरूपयिष्यते । सर्वद्व-
 मातृकायां अत्रैकं पदं दृष्टितमिति यथा लिखितं न तथाऽत्र लिखितमिति तृतीयाध्यायसमाप्तिनं
 पूर्वमवधारितेति ।

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

गुल्मपदार्थः तत्स्वभावश्च ।

पञ्च गुल्माः समुद्दिष्टा निदानेषु सविस्तरम् ।
गुल्मत्वं तेषु वक्ष्यामि चिकित्सां च पृथक् पृथक् ॥
मारुतः कुपितो देहे स्रोतांस्युन्नह्य सर्वशः ।
अभ्यागत्वा दूषयति पूर्वं पित्तं कफं ततः ॥
दूषयत्यथ रक्तं च मेदोमांसविधावपि ।
स संघातः स्थिरीभूतो गुल्मत्वमुपपद्यते ॥
दुष्टानां हन्तुकामानां परप्राणभृतां यथा ।
हस्यश्चरथयानानां सङ्घातो गुल्म इष्यते ॥
एवं देहरसादीनां धातूनां विप्रकर्षणम् ।
संसर्गो गुल्म इत्युक्तं सङ्घातो गुल्म उच्यते ॥
स्तम्भिनिस्तम्भिनीनां तु(?) वल्लीनां वीरुधामपि ।
सङ्घातो गहनं गुल्मस्तद्वद्गुल्मसु देहिनाम् ॥
अमूर्तत्वादि वा तस्य संवृत्तिर्नोपजायते ।
सुधाय पित्तश्लेष्माणौ मारुतो गुल्मतां व्रजेत् ॥
मधूच्छिष्टमयं पिण्डं चिन्वन्ति भ्रमरा यथा ।
तथा रो(को)ष्टे(ष्ठे)षु पवनो धातूस्तान्विचिनीत्यपि ॥

(तत्त-स्थानभेदेन गुल्मानां गुरुलघुभावः) ।

स्थानानि तस्य गुल्मस्य शंसन्ति गुरुलाघवम् ।
कुक्षिवस्तिगतो गुल्मो वातभूयिष्ठ उच्यते ॥
स वातगुल्मरूपाणि कुर्यात् स्थानवशेन तु ।
तथैव पित्तस्थानस्थः पित्तरूपाणि दर्शयेत् ॥

एवं श्लेष्मणि रक्ते च सन्निपाते च सर्वशः ।
 सर्वेषां सन्निपाते तु खं खं रूपं निदर्शनम् ॥
 आगन्तुर्दूषयत्यत्र धातून् स्थानस्थ उत्वणम् ।
 चिकित्सितं तु स्थानत्वं(स्य) न(स)हि तत्र बलाधिकः ॥
 हृदि वस्तिगतः पाकं वातगुल्मः(ः) तु गच्छति ।
 ह(ह)न्नाभ्योरन्तरं गुल्मः पाकं गच्छति पैत्तिकः ॥
 हृदि च श्लेष्मगुल्मसु पाकं यात्यननुष्ठितः ।
 पच्यते सन्निपातात्तु गुल्मः(ः) शोणितजस्तथा ॥
 दोषद्वयेन संस्पृष्टाः सर्वे गुल्माः प्रमाथिनः ।
 तस्मै (स्मात्) तेषां भेदनीयाः क्रियास्सर्वा प्रयोजयेत् ॥
 अत्यर्थं स्निह्यमानोऽपि गुल्मो वृद्धिमवाप्नुयान् ।

(वातगुल्मचिकित्सा) ।

अतस्तु वातगुल्मस्य प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ॥
 प्रभुर्हि सर्वभूतानां वायुः प्राणेश्वरो बली ।

(दशाङ्गष्टतम् ।)

हरीतकीं त्रिन्न(क)टुकं वचां कटुकरोहिणीम् ॥
 सौवर्चलं यवक्षारं विडङ्गं चित्रकं तथा ।
 अक्षप्रमाणैरेतैस्तु घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
 तत्सद्यः स्नावयित्वा तु पाययेत्तु यथाबलम् ।
 वातगुल्मं क्रिमिं कासं श्वासं पि(प्ली)ह(ऱ)नमेव च ॥
 दशाङ्गं नाशयत्येतद्गोमान्वज्रमिवासुरान् ।

(दाधिकष्टतम् ।)

हे वं(पं)चमूली सुषवीमश्वगन्धां पुनर्नवाम् ॥
 कालां छिन्नरुहां रास्नां भाङ्गीं गोल्लुरकां बलाम् ।
 क(श)टिं पुष्करमूलं च पलाशं गन्धसंज्ञकम् ॥
 एतेषां द्विगुणान् भागान् जलद्रोणे विपाचयेत् ।
 कोलानां सकुलुत्यानां माषाणां च यवैस्सह ॥

प्रस्थं प्रस्थं पृथक्कृत्वा तस्मिन्नेव समाप(व)ये(पे)त् ।
 तेन पादावशिष्टेन घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
 दध्यादिभिस्समं शुक्तं आरनालं तुषोदकम् ।
 दाडिमान्हाक(त)करसं मातुलुङ्गरसं तथा ॥
 चतुर्गुणं चात्र दधि गर्भं चेषां समाप(व)ये(पे)त् ।
 कारवीं ब्रूषणं दन्तीं त्रिणेक्षुलवणानि च ॥
 हिंसां रास्नां वनां(सां) चैव यवानि(नी) मन्त्रवेतसम् ।
 विडङ्गं दाडिमं हिङ्गु नौलिकां चिह्नतामपि ॥
 द्राक्षिकां चाजमेदां च पाठां पाषाणभेदकम् ।
 जषणं ऋषभं भाङ्गीं श्वदंष्ट्रां हपुषामपि ॥
 त्रपुसोर्वोदु बीजानि(?) शतवीर्योपकुञ्चिका ।
 अजाजीं चित्रकं पू(दू)र्वां तुम्बुरुं गजपिप्पलीम् ॥
 धान्यकं सुरसं चैव दद्यादक्षेण सन्धितम् ।
 गर्भं(व्ये)णा(नाऽऽ)जेन तस्मिद्धं पाययेत्सर्पिरुत्तमम् ॥
 उक्तगुल्मादृते सर्वान् गुल्मानितत् प्रणाशयेत् ।
 एकांगते पक्ष्मते गृध्रस्थां प्लिङ्गि चैव हि ॥
 हृद्रोगे ग्रहणीदोषे वातगुल्मे च दारुणे ।
 दाधिकं नाम विख्यातं सर्पर्पिरितत् महागुणम् ॥
 उन्मादं ग्रन्थिप(व)द्वा(र्त्मा)नि चापस्मारं च नाशयेत् ।

(षट्पलघृतम् ।)

यावशो(शू)कं तथा क्षारं सैन्धवं हस्तिपिप्पलीम् ॥
 पिप्पलीं शृङ्गिवेरं च मरीचं च समावपेत् ।
 एषां षष्ठां षडेव स्युः पृथक्भागाः पलं पलम् ॥
 एषामर्धपलान्भागान् कषायमुपसाधयेत् ।
 पेशैरर्धपलीनैस्तु घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
 स्नेहतुल्यं कषायं तु क्षीरं तद्विगुणं भवेत् ।
 इत्येतत् षट्पलं नाम सर्पिर्गुल्मविनाशनम् ॥

स्निहानमर्शासि तथा ग्रहणीदोषमेव च ।
 वस्तिकुण्डलवर्त्मानि पानादेवापकर्षति ॥
 एषामन्यतमैः स्नेहैः स्नेहितं वातगुल्मिना(न)म् ।
 विरेचनेन स्निग्धेन युक्त्या संशोधयेद्भिषक् ॥

(सानुपानक्षीरविशेषः ।)

घृतं च सक्तं च तथा चित्रकं सैन्धवं प(व)चाम् ।
 पिप्पलीं च पचेत् क्षीरं(रे) प्रश(शा)स्तं(न्तं) चावतारयेत् ।
 ततो बिडालपदकं पिबेदुष्णेन वारिणा ।
 घृतेन पयसा वापि मद्येनोष्णेन वारिणा ॥
 वातगुल्मं नुदत्येषः गुल्मशूलानि यानि च ।
 सप्तीहानमुदावर्तस्त्रैषं गुल्मं च नाशयेत् ॥

(चारघृतम् ।)

महौषधं देवदारु वाशा कटुकरोहिणी ।
 चित्रि(त्र)तः(कं) पिप्पलीमूलं पिप्पल्यो हस्तिपिप्पली ॥
 कुष्ठं च सर्पगन्धं च पञ्चैव लवणानि च ।
 द्वौ क्षारी त्रिवृता दन्ती द्रवन्ती चोपकुञ्चिका ॥
 एषामर्धपलान् भागान् लवणानां पलं पलम् ।
 चूर्णानि दध्नः प्रस्थार्थि(र्धं) समालोड्य विपाचयेत् ॥
 वसातैलघृतानां च प्रस्थं प्रस्थं प्रदापयेत् ।
 प्रदीप्तं च यथा शान्तं अथैनमवतारयेत् ॥
 ततो बिडालपदकं पिबेदुष्णेन वारिणा ।
 घृतेन पयसा वापि मद्येनास्त्रेण वा पुनः ॥
 एष चारघृतो नाम वातगुल्मविनाशनम्(ः) ।
 स्निहानमर्शशूलानि वर्मी(र्त्मां)दावर्तकुण्डलम् ॥
 क्रिमीन् सग्रहणान्(णी) दोषान् विषान्वातापतान्की ।
 सर्पभूषकदंष्ट्रांश्च अथितान् गदयोजितान् ॥

वातश्च असमुत्थानां सन्निपातात्मनां तथा ।
प्रसह्य नाशयेद्गुल्मं क्षिन्नाभ्रणीव मारुतः ॥
वन्ध्या च लभते गर्भं गरानपि च नाशयेत् ।
अपस्मारानथोन्मादा(१)

इति भेले चिकित्सिते पञ्चमोऽध्यायः ।

(कुष्ठनिमित्तलक्षणादीनि ॥)

.....पित्तं भृशं देहे प्रकुप्यति ॥
तत्प्रदुष्टं दूषयति रक्तमांसमथोल्बणम् ।
तत्र कुष्ठानि जायन्ते देही(हे) बहुविधानि तु ॥
तेषां रूपाणि वक्ष्यामि चिकित्सां च यथाक्रमम् ।
दोषाणां सञ्चितानां तु त्वङ्मांसावस्त्रचारिणाम् ॥
प्रदूषणं सर्वेषां कुष्ठमित्यभिधीयते ।
विरुद्धमाहारयतो(ऽ) व्या(प्य)जीर्णद्यशनने च ॥
हृदिभूतपुरीषाणां वेदा(गा)वां(नां) च विधारणात् ।
ग्राम्यानुपादकं मांसं शाकं हरित्तरानि च ॥
मद्यमन्त्रमथात्यर्थं सेवित्वा यः पिबेत् पयः ।
भुक्त्वा वाऽत्युष्णमाहारं मधु मांसं च सेवते ।
मद्यं मधु च यः पीत्वाऽत्युष्णमन्नं च सेवते ।
विदग्धभुक्तो यश्चापि ग्राम्यधर्मं निषेवते ॥
उष्णातपाभ्यां सहसा यश्चाप्यप्सु निमज्जति ।
तस्यौष्ण्यं सन्निरुद्धं तु प्रकोपयति मारुतम् ॥
उदीरयति वायुसु दूषितो दोषसञ्चयात्(न्) ।
दोषाः शिराः प्रपन्नासु रुधिरं दूषयन्त्यति ॥
रक्तमांसनिरुद्धासु वातपित्तकफास्तयः ।
जनयन्त्याश्च कुष्ठानि नृणामष्टादशैव तु ॥

निदानेष्वपि निर्दिष्टं निदानं हस्त(साप्त)कुष्ठिकम् ।
अष्टादश तु कुष्ठानि तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

(वात-पित्त-श्लेष्म-कुष्ठलक्षणानि ।)

यत्कुष्ठमरुणाभासं श्यामारुचं सवेदनम् ।
पिपीलिकाचूर्णमिव कर्कशं चापि वातिकम् ॥
क्षिप्रमुत्तिष्ठते यस्तु दूष्यते परिदहति ।
ताम्रं श्यावप्रकुपितं सज्वरं चापि पैत्तिकम् ॥
समुत्पन्नेषु वातेषु स्तिमितं बहुलं गुरु ।
पाण्डुस्निग्धं च गुरु च यत् कुष्ठं श्लेष्मसंभवम् ॥

(सान्निपातिककुष्ठ लक्षणम् ।)

स्फुटितं (श्याव) बहुलं दाहरागरुजाऽन्वितम् ।
त्वग्रोमनखमांसैश्च दीर्यङ्गिस्सान्निपातिकम् ॥

(कुष्ठ पूर्वरूपाणि ।)

प्रादुर्भविष्यति(तः) चैव पूर्वरूपाणि(मे) शृणु ।
ता(या)नि संलक्ष्य मेधावि(वी) चिकित्सितमुपाचरेत् ॥
जष्माण्णं परीतापः खेदो का(रौ)क्ष्यं विवर्णता ।
सुप्तत्वं रोमहर्षश्च गाढाणां गौरवं क्लमः ॥
रागः पिपासा दीर्घव्यं दवधु(यु): पिटकादयः ।

(काकणौदुम्बर-मण्डलशर्जजिह्वाकुष्ठ लक्षणानि ।)

तत्र कुष्ठानि जायन्ते तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
स्वेदनं काकणाभासं समुत्पन्नसवेदनम् ।
स्फुटितं नीलपर्यन्तं काकणं कुष्ठमुच्यते ॥
उदुम्बरनिर्भर्यक्तु मण्डलैर्बहुभिश्चितम् ।
निरास्त्रावैः स्त्रवद्भिर्वा विद्यादौदुम्बरं तु तत् ॥
मण्डलैर्बन्धुजीवाभैरुत्पन्नैस्त्रविदाहिभिः ।
विद्या(त्) मण्डल कुष्ठं तद्देदना चौ(शो)षणान्वितम् ॥
ऋश्यजिह्वोपमं कुष्ठं ऋश्यजिह्वा विभावयेत् ।

(पुण्डरीक-सिद्ध-कपाल-चर्म-कुष्ठ लक्षणानि ।)

पुण्डरीकदलाभासं पुण्डरीकं तु तद्विदुः ॥

अलावुपुष्पसदृशं स्नि(सि)ग्धं(द्र) कुष्ठमुदाहृतम् ।

कपालकुष्ठं कृष्णं तु मण्डलैः परुषं तदा ॥

चर्मकुष्ठं तु बहुलं हस्तिचर्मनिभं खरम् ।

सस्फोटकाननं(ना) तापा पामा कण्डूरकान्विता ॥

दृढं पुनः प्रस्रवति कण्डूरोधान्वितं च यत् ।

(कण्डूरोध-कीटिक-विचर्चिकी दद्रुकुष्ठ लक्षणानि ।)

वर्धते च समुत्पन्नं कि(की)टिवं(कं) तत्प्रकोर्तितम् ॥

श्यावा रक्ता समुत्पन्ना प्रक्लिन्ना स्त्राविणो तथा ।

मांसिनोपचिता युक्ता विज्ञेया सा विचर्चिका ॥

परिशुष्काणि रूक्षाणि कण्डूराणि घनानि च ।

मण्डलान्युन्नताग्राजि दद्रुकाष्ठं हि तत् स्मृतम् ॥

(शतारूष्क-श्वित्र-विषज-पादिक-स्थूलारुः-कुष्ठलक्षणानि ।)

अरुद्धिश्चायमानं तु नीललोहितकैः खरैः ।

बहुभिश्च प्र(स्त्र)वद्भिश्च शतारूष्कं तु तद्विदुः ॥

शालिशू(मू)त(ल)प्रतीकाशे(शैः) लोमभिश्च क्ललोहितम् ।

अन्योन्यैर्मण्डलैर्विद्धं श्वित्रं तदुपलक्षयेत् ॥

मीनमूषिककीटानां विषवेगेन दूषितम् ।

सकण्डूदाहपिटकं विषजं श्याममेव वा ॥

पादपाणितलाङ्गुष्ठपाणिं देहेषु जायते ।

स्फुटितं वेदनादाहयुक्तं वै पादिकं स्मृतम् ॥

उदुम्बरसवर्णं तु समुत्पन्नसवेदनम् ।

पिच्छद्रा(रा)गविवर्णं च कुष्ठं स्थूलारुच्यते ॥

(एककुष्ठ लक्षणम् ।)

विसर्पैस्संपरिक्रान्तं विकू(शी)णं(र्णं) सपरिस्त्रवम् ।

तदेककुष्ठमित्युक्तमेकं वि(वी)सर्पसंभवम् ॥

पि(ए)तान्यष्टादशोक्तानि कुष्ठानि क्लृप्तास्त्रिचक्षुः

(नवासाध्य कुष्ठानि ।)

न च(व) तेषामसाध्यानि चिकित्सानि तथैव च ॥
 पुण्डरीकमथ श्वितं ऋश्यजिह्वं सकार(क)णम् ।
 उदुम्बरशतारूष्कं चर्मकुष्ठं च यत् स्मृतम् ॥
 एककुष्ठं तु यत्रोक्तं कुष्ठं वै पादिकं च यत् ।
 एतानि नव कुष्ठानि न सिध्यन्ति कदाचन ॥

(नवसाध्य कुष्ठानि ।)

सिद्धं विचर्चिका वा(पा)मा दद्रुश्च क(की)टिकानि च ।
 कपो(पा)लकुष्ठं स्थूलार्मण्डलं विषजं च यत् ॥
 एतानि नव साध्यानि कुष्ठान्यहर्मनौषिणः ।
 कर्मजानि नव ह्येषां दोषजानि स(न)वैर(व)तु ॥
 कर्मजानि न सिध्यन्ति सिध्यन्ति ह्येताराणि तु ।
 आत्मवान्मुच्यते तेभ्यः कुशलेन स्वधिष्ठितः ॥

(कुष्ठे जलूकादिभिः रक्तनिर्हरणचिकित्सा ।)

रक्तो-(ङ्ग) वाकि(नि) कुष्ठानि सन्निपातोद्भवानि च ।
 तस्मात्तेषां प्रथमतः सिराकर्म विधीयते ॥
 कुष्ठस्या-(त्य)ल्पतो न्यायं(रिकं) बहुशश्च(ष्क)र्दनं स्मृतम् ।
 जलूकालाबुशृङ्गैर्वा शोणितं तस्य निर्हरेत् ॥

रक्तविकाराः ।

शृणु रक्तविकारांस्तु पृथग्धातुसमाश्रितान् ।
 सफेनमरुणं रुद्धं वालि(ति)कं शोणितं तनु ॥
 नीलपोतासितं तप्तं रक्तं पित्तान्वितं स्मृतम् ।
 विजलं पाण्डुरं स्निग्धं तन्तुमच्छकषात्मकम् ॥
 सर्वेषां द(क)र्शनं विद्यात् शोणितं सान्निपातिकम् ।
 इन्द्रगोपकसङ्काशं अदुष्टं रक्तमुच्यते ॥
 नरस्य मुक्तरक्तस्य प्रतिमुक्तवतस्तथा ।

(रक्तचिकित्सातः पूर्वं वमनादिकर्तव्यता ।)

स्निग्धैर्मृ(र्द्धु)तैरस्त्रेहितस्य कुर्यात्संशोधनं ततः ॥

वमनं रेचनं चैव तथा शीर्षविरेचनम् ।

आस्थापनं च कुर्वीत नचैनमनुवासयेत् ॥

शालीन् सषष्टिकांश्चैव जाङ्गलांश्च मृगद्विजान् ।

यदा(वा)ग्नि(न्न)विकृति(ती)श्चैव कुष्ठ(ष्टी)नितं(त्यं) समाचरेत् ॥

कुष्ठवर्ज्यान्नादीनि ।

ग्राम्यासु(नू)षो(पो)ड(द)शं(कं) मांसं इक्षुस्तिरुष्टं सुरा ॥

दधि दुग्धं देवा स्वप्नः फलान्यम्भानि मैथुनम् ।

मूलकं पिष्टविकृतिर्वसा हरितकानि च ॥

कफं पित्तं च रक्तं च सर्वमेतत् प्रकीपयेत् ।

एवंविधानि चान्नानि अभिष्यन्दकराणि च ॥

अजीर्ण(म)शनं चैव कुष्ठा दि(नि)त्यं विवर्जयेत् ।

(आभ्यन्तरचिकित्सा कुष्ठे धान्वन्तरादिप्रयोगः ।)

(१)धा(१)न्वन्तरं पिवेत्सर्पिः स्नेहनार्थेषु कुष्ठिनः ॥

(१) धान्वन्तरं=गव्यघृतं १६ शराव परिमितं तत्र क्वाथार्थं दन्तीसूलं चित्रक मूलं प्रत्येकं ८ पल परिमितम्, विंशतिपलपरिमिता हरीतकी, प्रत्येकं ६ पल परिमिता देवदारु-कदम्ब-केलिकदम्ब लवङ्ग-लङ्गुल-आरग्वध-त्वगास-त्वक्-पुनर्नवा-करञ्ज-त्वक् ६४ पल परिमितं दशसूलं, वारिच ६४ शराव परिमितम् । तदिदं यदा चतुर्धाशावशेषितं भवति, तदनन्तरं प्रत्येकं तोलकद्वय परिमित पञ्चलवण पञ्चकोलथोः कल्कस्य निचैपः करण्णैयः, अथ घृतस्य फेनोपः पाकः, फेनोत्पत्तिः तैलस्य, तन्मुक्ता कृद्ध्यत्यादि विशेषा अप्यनुसन्धेयाः ।

गण्डीरायुरिष्टः=गण्डीरफलातकचित्रकांश्च व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयं च । द्विप्रास्थिकं गोमय-पावकेन द्रोणे पंचैत् कूर्चिकमस्तुनस्तु । विभागशेषं तु सुपूतशीतं द्रोणेन तत् प्राकृतमस्तुना च । सितीपलायाश्च शतेन युक्तं लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीभ्याम् । वैहायसी स्थापितमादशङ्कात् प्रयोजयेत्तद्विनिहन्ति शोफान् । भगन्दरार्शःकमिकुष्ठमेहान् वैवर्ण्यं काश्यांनिलहिकनं च ॥ इति चरकसंहिता । चिकि—१२शाध्याये ।

अभयारिष्टः=हरीतकीनां प्रस्थार्धं प्रस्थसामलकस्य च । स्यात् कपित्थाद्दशपलं पलाधेनेन्द्र-पिप्पली । विडङ्गं पिप्पली लोध्रं मरीचं सैलवाल्कलम् । द्विपलाशजलस्येतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत् । द्रोणशेषे रसे तस्मिन् पूते शीते समावपेत् । गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत् तत् पक्वं घृतभाजने । पचादूर्ध्वं भवेत् दद्यात् ततो मावा यथाबलम् । इति । चरक संहितायां ।

महद्वै(पं)च गव्यं वा तैलं शैरि(री)प्रमेव वा ।
 पिप्पलीवर्धमानं वा माक्षिकेन समाचरेत् ॥
 अरिष्टमभयारिष्टं गण्डि(ण्डी)रारिष्टमेव वा ।

(कुष्ठे खादिर रसस्य स्नानापानादिषु सर्वत्र विशेषः ।)

सुष्टं खादिरसारस्य कुष्ठितं(नं) प्रतिवे(यो)ज(येत्) ॥
 त्र्यहं स्मृ(ष्ट)तं पिबेत्तच्च स्नायादुद्धर्तयेत्तथा ।
 तेन सिद्धं च म(भु)ञ्जीत पानीयार्थं च कारयेत् ॥
 पक्षं मासमृतं(तुं) वापि षण्मासानेवमाचरेत् ।
 प्रसह्य खदिरो हन्ति दुष्टानि सुगुरुण्यपि ॥
 संवृद्धो लोकपर्याये युगान्ताग्निर्नगानिव ।

(स गोमूत्र हरिद्राचूर्णादि पानम् ।)

पञ्चाभयास्तु सद्योषा सुगुडा वाऽपि चूर्णिता ॥
 लिह्यात्वा (स्वा)दशनः कुष्ठि(ष्टी) वान्तो वा न चिराद्भवेत् ।
 गोमूत्रेण हरिद्रां तु रसाञ्जनमथापि वा ॥
 प्रयोगेण पिबेत्कुष्ठौ तदा रोगात्प्रमुच्यते ।
 द्राक्षा हरिद्रा मञ्जिष्ठा त्रिफला देवदारु च ॥
 नागरं पञ्चमूल्या द्वे मुस्तौ मधुरसौ तथा ।
 सप्तपर्णी ह्यपामार्गः पिचुमन्दाटकू(रू)ट(ष)कौ ॥
 विडङ्गं चित्रकं दन्ती पिप्पल्यो मरिचानि च ।
 तेषां तु समभागानां कुष्ठ(ष्टी)चूर्णफ(प)लं पिबेत् ॥
 मासं गोमूत्रसंयुक्तं तदा कुष्ठात् प्रमुच्यते ।

(कुष्ठे उट्टीक्षीरपानस्य विशेषः ।)

उट्टि(ष्टी)क्षीरं पिबेज्जीर्णं क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः ॥
 जातक्रिमीन(नि)कुष्ठानि च्युतरोमनखान्यपि ।
 अपि वा शीर्णमांसानि क्षीरमौष्ट्रं विदारयेत् ॥
 एतास्त्वलभ्यन्तराः प्रोक्ताः क्रिया कुष्ठनिवर्हणाः ।

(कुष्ठे प्रलेपादि बाह्यचिकित्सा ।)

बाह्यां क्रियां प्रवक्ष्यामि विस्तरेण निबोध मे ॥
आ रे(ले)पनानि कुर्वीत मुक्तरक्तस्य देहिनः ।
विष्टथ शस्त्रैः पत्नैर्वा गोमयैरपि वा पुनः ॥

(दद्रुकुष्ठानि सप्तके खर्जकादि लेपः ।)

ततः कुष्ठानि लेप्यानि प्रलेपैः कुष्ठनाशनैः ।
खर्जकाकुष्ठतुल्यानि विडङ्गमरिचानि च ॥
मनःशिला च लोध्रं च लेपः कुष्ठविनाशनः ।
अवल्गुजफलं दन्ती स्योनाकं गजपिप्पली ॥
चित्रकं सर्षपौ द्वौ तु हरिद्रे द्वे विप्रेषयत् ।
मातुलुङ्गरसेनैतत्समालीढ्य निखानयेत् ॥
सप्तरात्रात्परं चैव कुष्ठानां लेपनं परम् ।
दद्रुं कपालकुष्ठानि कि(कौ)टिकानि विचर्चिकाम् ॥
स्थूलारुष्काणि विषजं सिद्धानि च नियच्छति ।

(करवीरादिलेपः ।)

करवीरो लाङ्गलिको दन्ती हिंसा शुकास(न)सा(ना) ॥
चित्रकार्कश्लिकटुकं त्रिफला कटुरोहिणी ।
कोशातकी भद्रमुस्ता बृहती सर्षपा वचा ॥
करञ्जबीजं शुद्धा च खण्णचीरी निदिग्धिका ।
पिचुमन्दश्च जात्या(त्य)श्च पि(पी)तु-(वि)ल्वकवल्लक(र)म् ॥
सौधामलकबीजानि कर्णिकारो ह्यफ(व)ल्लुजः ॥
.....भल्लातकम् ॥ (१)

इति भेले चिकित्सिते षष्ठोऽध्यायः ।

(१) अत्र किञ्चित् साटकायां वृटितमिति भाति ।

(श्लेष्ममेह्यादिचिकित्सा ।)

स्त्रियां च युक्ता(क्त्या) सेवेत (दवा स्वप्नं च वर्जयेत् ।
 कषायस्नाननित्यस्य कषायोदकसेविनः ॥
 विशेषतः श्लेष्ममेहान् तीक्ष्णैरिव समाचरेत् ।
 सकाषायं च तिक्तं च पित्तिकेषु प्रयोजयेत् ॥
 असाध्यवातजान् मेहान् चतुरः परिवर्जयेत् ।
 अरु-(चि)श्चाङ्गमर्दश्च लक्ष्णा कासो भ्रमस्तमः ॥
 शूलानि पिटका कण्डूः प्रमेहानामुपद्रवाः ।
 अक्रियाभिः प्रमेहेषु पिटका ह्यपि कारयेत् ॥
 उपद्रवैश्च युक्तानां पिटकाभिस्तथैव च ।
 प्रमेहिण(णा)मिदं प्रोक्तं मया भैषज्यमुत्तमम् ॥
 व्यस्तैरेतैस्समस्तैश्च योगसु प्रविभागतः ।
 चिकित्सां कल्पयेद्द्वयो यथा दोषं यथावलं ॥
 विंशति(ती) मूत्रकृच्छ्राणां लक्षणानि निरीक्ष्य तु ।
 रोगसंसर्गहेतूँश्च ततो योगान् प्रकल्पयेत् ॥
 उद्देशमात्रं तेषां तु तस्मादध्यामि भेषजम् ।
 भूयो मूलप्रशान्त्यर्थं प्रविभागं च तच्छृणु ॥

प्रमेहे पानविशेषाः ।

शतावरौमूलरसं(सः) समांशो मधुसर्पिषा ।
 द्राक्षं मेहेतु पातव्यं कफपित्तप्रशान्तये ॥
 किराततिक्तस्वरसः पटोलारुषयोस्तथा ।
 न(स)क्षौद्रः शमयेन्नेहं काथस्तूदकसंचितः ॥
 पिप्पली शृङ्गिवेरं च मरीचानि तथैव च ।
 पिबेत्सुखाम्बुनाह्वेतत् सद्यो मेहात् प्रमुच्यते ॥
 चव्यचित्रकमूलानि पूतिकस्य त्वचस्तथा ।
 कलेर्यूर्पासु संस्लक्ष्य भुञ्जानो वै सुखं भवेत् ॥

(भस्मलवणमेहयोः पानविशेषः ।)

क्षीरसिद्धैर्यवैर्भक्षैर्यद्युष्णं हिंशुसंयुतम् ।
 घृतं प्रसङ्गेन पिवन् भस्ममेहाग्रमुच्यते ॥
 कपित्थश्चाजमेदा च मिरिचानि तथैव च ।
 ततो युतं तैर्लवणं काचप्रोक्तं प्रदापयेत्(?) ॥
 पिप्पलीकणमंयुक्तं मधुयुक्तं सशर्करम् ।
 जयेत्लवणमेहं तु पीतं शीतेन वारिणा ॥
 मो(मे)हयुक्तेन भोक्तव्यं सार्द्रप्रस्त्रवणेन वा ।
 एतत्तु विजयेत् नित्यं मेहं लवणसंभवम् ॥

(सिकता-शुक्ल-क्षार-शत-रक्तमेहचिकित्सा ।)

एला प्रवालकं हिङ्गु लवणं च समं भवेत् ।
 मध्यनो(मो)ष्णि(ष्णो)न पि(पी)तं तत् स्ने(मे)हं ससिकतं जयेत् ॥
 तुम्बुरुणि कपित्थानां निर्यासं क्षौद्रसंयुतम् ।
 शुक्लमेहे प्रशंसन्ति यथा(वा)न्नस्य च सेवनम् ॥
 सकुलुत्थाणि यूषाणि सद्रवाणि विशेषतः ।
 भोज्यानि शुक्लमेहेषु यवान्नविक्रतिस्तथा ॥
 खट्वदंष्ट्रादर्भमूलैस्तु केवलं कथितं पयः ।
 सशर्करं पिवेज्ज(द्य)न्तु(स्तु) क्षारमेहाग्रमुच्यते ॥
 द्राक्षाशृतं वा पिवेत् तथा क्षा(र)शृतं नरः ।
 पित्तमेहाग्रमुच्येत क्षारमेहाच्च सर्वशः ॥
 पीतो मञ्जिष्ठचूर्णौ द्वौ मेहस(ना)च्च प्रमोक्षयेत् ।
 सक्षौद्रं शतमेहे तु यवान्नोपहितं सदा ॥
 मदयन्त्याश्च पत्राणां कल्कं क्षौद्रयुतं भवेत् ।
 दर्भमूलस्य च तथा रक्तमेहौ सुखी भवेत् ॥

(नील-वारि-मज्जप्रमेह चिकित्सा ।)

पिबेद्भि तेन पयसा नीलमेहाग्रमुच्यते ।
 प्ररोहैः क्षीरवृक्षाणां क्षीरं संकथितं पिवेत् ।

सशर्करेण मुच्येत नीलमेहात्तु पैत्तिकात् ।
 कुमुदोत्पलदन्तैश्च न(स) नालैः कथितैस्तदा ॥
 पिबेत्प्रायो यथाशक्ति वारिमिहात्प्रमुच्यते ।
 आस्थापनैर्वातहरैः सुकृतैश्चानुवासनैः ॥
 मज्जप्रमेहिणं दृष्ट्वा बहुशस्तमुपाचरेत् ।
 समां क्षीराशनश्चापि यवान्नमितभोजनः ॥
 शर्करास्त्रिमभागं तु क्षौद्रेण सह संसृजेत् ।
 शीतेन तोयेन पिबन् अश्वमेहात्प्रमुच्यते ॥
 इत्येतच्चोर(द)नायां तु कफपित्तहरं पृथक् ।
 चिकित्सितं मया प्रोक्तं प्रमा(मि)णा(हा)नां(णां) विनाशनम् ॥
 असाध्या भावजाश्चैव विज्ञेया भृशदारुणाः ।
 अवगाह्याति सूक्ष्मत्वात् देयं प्रस्रवणं शृतम् ॥

(गजमेह चिकित्सा ।)

प्रातः प्रातश्च सेवेत केवलैर्मधुसर्पिषि ॥
 कोरदूषयवान्नासि(नि)स्त्रिराशी च विशेषतः ।
 हस्तिमेहं जयन्नेह(वं) वस्तिस्त्रेदैः प्रयत्नतः ॥
 यत्नवान्वातमेहे हि स्थिरमूत्राणि वाऽऽचरेत् ।
 पाययेच्चादयेच्चापि गजमेहं भयापहम् ॥
 कषायैः तिक्तकटुकैः रसैरैतैः पिबेत् पयः ।
 शास्त्रोक्तामथ नं (सं)प्रेक्ष्य क्रियामेतां विचक्षणः ॥
 यथास्वं हि (सं) प्रधार्य प्रमेहान्साधयेद्भिषक् ।
 एतत्प्रसे (प्रामे)हिकं प्रोक्तं शिथ्याणामर्थसिद्धये ।
 चिकित्सितं विस्तरेण यथावदनुपूर्वशः ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते सप्तमोऽध्यायः ॥

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्नाह भगवानात्रेयः ।

पञ्चोन्मादास्समाख्याता निदानेषु सविस्तराः ।

सलिङ्गास्ससमुत्था(त्या)नाः शृणु तेषां चिकित्सितं ॥

✓ संवृद्धाद्येन्द्रियाणां हि तेषामपि विचेष्टितम् ।

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः ॥

तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् ।

समीपस्था(स्था)न्विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति ॥

व(म)म(न)न(सः)प्रभवं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ।

कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंश्रितम् ।

क्रियाणां चेतसासां च चित्तं सर्वस्य कारणम् ।

सुचित्ता सत्पथं यान्ति दुश्चित्तास्तु विमार्गगाः ।

कि(वि)दितं मनसा चित्तमालम्बो लभ्यते ततः ।

ततो बुद्धिः प्रभवति कार्याकार्यविचार(रि)का ।

शुभाशुभं हि कु(का)र्याणां बोधनं बुद्धिरिष्यते ।

बोधनाच्चापि बोध्यस्य क(न)रो बुद्ध इहोच्यते ।

सा(स) बुद्धिः परमात्मा च सशरीरे(रः) प्रकौर्तितः ।

यथा कृति(ती) कर्मकरैः क्रियां योजयते नृषु ।

मनसश्चित्तबुद्धीनां स्थानान्येतानि कर्म च ।

(मनश्चित्तादिदोष निमित्तम् ।)

सन्दूषितानां तेषां तु शृणु हेतुमतः परम् ।

ऊर्ध्वं प्रकुपिता दोषाः शिरस्ताल्वन्तरे स्थिताः ।

मन(ः)सा(सं) दूषयन्त्याशु ततश्चित्तं विपद्यते ।

चित्त(त्ते)व्यापदमापन्ने बुद्धिर्नाशं निय(ग)च्छति ।

ततस्तु बुद्धिब्यापत्तौ (तौ) कार्याकार्यं न बुध्यते ।
एवं प्रवर्तते व्याधिरुन्मादो नाम दारुणः ।

(मदोन्मादयोर्विशेषः ।)

तस्माद्विशेषं वक्ष्यामि ह्यन्मादमदयोरपि ।
शोकात्क्रोधात्तथा हर्षात् द्रव्याणां च विनाशनात् ।
चलिते चित्तमनसि मदमाशु निगच्छति ।
प्रध्यायति प्रस्वपिति रोदिति (तौ) हानिर्मत्ततः ।
हसत्यकस्मात् (तु) निद्राशु (लु) रत्यवान्नि (ङ्नि) त्यमुत्सुकः ।
त्वस्तश्शरीर (रे) दीनाच्चिक्रोधनो निरपत्नक (प)ः ।
पुरस्तादवलोक्य च न यथावृत्त एव च ।
परुषत्वं त (य) थालोमा (म) माविलं चक्षुषोरपि ।
एतानि यस्य रूपाणि स मदो नाम कीर्तितः ।
विवर्धमानस्तु स मद उन्मादत्वं निय (ग) च्छति ।
सवातिकानि रूपाणि श्लेषपित्तोद्भवानि च ।
उन्मादः (दे) श्रू (ब्रु) यते धीरैः (राः) सन्निपातात्मिकानि च ।
एतल्लक्षणमुद्दिष्टमुन्मादस्य निरुक्ततः ।

(अपस्मारचिकित्सितेनैवोन्मादस्यापि चिकित्सा ।)

निदाने पूर्वमुद्दिष्टं शृणु तेषां चिकित्सितम् ।
स्नेहितं स्त्रै (स्त्रे) रि (दि) तं चैव योजयेत् पञ्चकर्मणा ।
दाधिकं वा पिबेत्सर्पिस्तैलं शैरि (रौ) षमेव वा ।
(१) शतपाकं बलातैलं महापैशाचिकं घृतम् ।

(१) बलाशतं गुडूच्याय पादं राक्षाष्टभागिकम् ।

जलादृक्कशते पक्त्वा दशभागस्थिते रसे ॥

दधि मल्लिचुनिर्यासशुक्तैस्तैलादृकं सनैः ।

पचेत्साजपयोऽर्धांशैः कल्कै रैभिः पलोन्मितैः ॥

शटी-सरल-दावला-मञ्जिष्ठाऽगरु-चन्दनैः ।

पञ्चकाऽतिविषा-मुस्त-सूप्य-पर्णी-हरिणुभिः ॥

दाधिकं च महाक्षारं उन्मत्तशीलयेत्सदा ।

यच्चिकित्सितमाख्यातं अपस्मारविनाशनम् ।

तदेव सर्वं निखिलं उन्मादेष्ववचारयेत् ।

(कशाघातादिभिरुन्मादिनो विनाशनावश्यकता ।)

घातयेत्तं कचा(शा)भिश्च भीषयेत्ताडयेत्तथा ।

गजिनप्यथवाश्वेन त्रासयेत्पन्नगेन वा ।

पुनस्तृणाग्निना वापि सर्वतस्स(स्त)मवाकिरेत् ।

अवती(की)र्याथवाऽङ्गारैः(ः) प्रदीप्त(मैः) पारिभद्रकैः ।

प्रयुक्तं शीतलेनैव जलेनाभ्युक्षयेत् पुनः ।

प्रसारयेद्वाऽसरिते सरणे वा निरोधयेत् ।

बुभुक्षया शोषयेद्वा रो(कोऽ)पि प्रक्षिप्य मानवः ।

अपूर्वा भि(भौ)षयेयुस्तं पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।

विज्वा(त्रा)श(स)येयुर्वैद्यास्त्रं(स्तं) त्रासनैस्तु पृथग्विधैः ।

त्रासास्तीव्रा हि कुर्वन्ति चित्तस्य विकृतिं भयात् ।

भयमेव तु चित्तस्य स्थानवा(हा)नार्थमुच्यते ।

प्रक्षिप्तचित्तो विचरेत् त्रास्यमानोप(पि) शस्त्रशः(तः) ।

कुमार(ब)बानुगतः तमसार्धं विनिर्दिशेत् (?) ।

यथाहसुरसव्यान्न-नखर्षभक जीवकैः ।

पलाशरसकसूरी नलिका जाति कोषकैः ॥

पृक्काकुडुमशैलिय जाता कटु फलाम्बुभिः ।

त्वक्चन्दनैलाकपूरतुरुष्क श्रीनिवासकैः ॥

लवङ्गनखककोलकुष्ठमांसी प्रियङ्गुभिः ।

स्थौलिय-तगर-ध्यामवचा मदनकप्रवैः ॥

सनागकेशरैः सिङ्गे क्षिपेच्चात्रावतारिते ।

पावकल्कं ततः पूर्तं विधिना तत् प्रयोजयेत् ॥

बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिनिनाशनम् ।

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं तथा ॥

सहस्रं शतपाकं वा वातासृक्वातरोगनुत् ॥

इति चर-२४-अध्याय

वमनादिभिरुन्मादचिकित्सा ।

प(व)मनाञ्जननस्यैश्च क्षारैः क्षारागदैरपि ।
 प्रोक्तैरपस्मारहरैरुन्मादं समुपाचरेत् ।
 (१)पुराणं पाययेच्चैनं सर्पिरुन्मादनाशनम् ।
 स्थितं वर्षशतं श्रेष्ठं कुम्भसर्पिस्तदुच्यते ।
 पानाम्यञ्जननस्येषु वातमुन्मादिनां यति(दि) ।
 काष्ठाकं लशुनं चैव वस्तमूत्रेण पिषयेत् ।
 उन्मादिनां प्रयोगोऽयं पुराणघृतसंयुतम्(ः) ।
 एताः क्रियाः प्रयुञ्जीत वैद्यः कायचिकित्सकः ।
 चं-(ड)कर्माणि होमांश्च कुर्याद्वा(ङ्गु)तचिकित्सकः ।
 दृष्टयः शान्तिकर्माणि हेमा स्वस्थयनानि च ।
 वेदोक्ताः कर्मविधयः कार्याश्चोन्मादनाशनाः(ः) ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सितेऽष्टमोऽध्यायः ॥

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(अपस्मारनिमित्तानि तद्रूपाणि च ।)

उत्तररूपं समुत्थानं अपस्मारस्य कृत्स्नशः ।
 निदानेषु चिकित्सां तु विस्तरेण निबोध मे ॥
 गजाश्वयानात् पतनादभिघाताङ्गमादपि ।
 दृष्टद्रव्यविनाशाच्च चित्तं विश्रममृच्छति ॥

(१) उग्रगन्धं पुराणं स्यात् दशवर्षं स्थितं घृतम् ॥

इति वैद्यकप्रशस्तिनिर्घट्टः ।

तस्य चित्ता(त्ते) परिभ्रान्ते हृदयं परिशुष्यति ।
 कृण्वि वायुरूक्षाणं नाडीः प्राप्य जलावहा(ः) ॥
 भृशं दृष्ट्वापरीतस्य(स्स) मोहं गच्छत्यपस्मरन् ।
 अपस्मरत्यपस्मार(री)फेनं मुञ्चति वेपते ॥

(अपस्मारे कल्याणघृतादि चिकित्सा ।)

स्वेत तैलं शैरीषं घृतं कल्याणकं (१) तथा ।
 महापैशाचिकं वापि महाक्षारं च दाधिकम् ॥
 शण्वीजानि कैडर्यं.....चापलूनकम् (?) ।
 रूपस्था च वयस्था च पूतना केशधारिणी ॥
 त्रिफला त्रूषणं सुस्ता लशुनं पापचेलिका ।
 एतानि समभागानि वसातैल घृतानि च ॥
 जर्णकं च त(था) कभ्यं पचेद्भोमूत्रसंयुतम् ।
 यदा प्रज्वलितं शान्तं अथैनमवतादयेत् ॥
 बडालपदमूत्रं तु क्षरस्यास्य सुखाम्बुना (?) ।
 पिबेदपस्मारहरं उन्मादस्य च नाशनम् ॥
 अर्शांसि गुल्मान् मेहांश्च प्लिहान-(सु)दरामया(न्) ।
 इति भेले चिकित्सिते नवमोऽध्यायः ॥
(२)

(१) हिङ्गुसौवर्चलाव्योषैर्द्विपलांशैर्घृतं ताढकम् ।
 चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धसुन्मादनाशनम् ।
 विशाला विफला कौन्ती देवदार्वेलवालकम् ।
 स्थिरा नतं रजव्यू हे शारिवे हे प्रयङ्गुका ॥
 नीलीतपलैला मज्जिष्ठादन्ती दाडिमकेशरम् ।
 तालीशपत्रं बृहती मालव्याः कुसुमं नवम् ॥
 विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपल्लवौ ।
 अष्टाविंशतिरित्येतैः कल्केः कर्षसमन्वितैः ॥
 चतुर्गुणे जले सभ्यक् घृतं प्रस्थं विपाचयेत् ।
 अपस्मारे ज्वरे कासि शोषे मन्दानले चये ॥
 कल्याणकमिदं सर्पिः शोष्ठं पुंसवनेषु च ॥
 चर-चिकि-४ अध्याय ॥

(२) अत्र किञ्चित् मातृकायां द्रुष्टितं भाति ।

(अतिसार निमित्तं तत्र लघ्नादिचिकित्सा च ।)

भयाद्वा यदि शोकात् योऽतिसारः प्रवर्तते ॥

अतिसारस्तु भूयिष्ठं सर्वमेव समं भवेत् ।

तस्मात्सर्वमतीसारं लङ्घनैस्समुपाचरेत् ॥

लङ्घने बलवन्तं च दीपनीयानि कारयेत् ।

दुर्बलस्य तु संसर्गं कारयेत्तु विरिक्तवत् ॥

स्तिमितं यस्य गुरु च पर्याभातमितो(वो)दरम् ।

दीपनीयोपपन्ने तु बहुदोषं तु देहिनाम् ॥

स्तोकं स्तोकं स्त्रंसमानं विगृहीतं सवेदनम् ।

दीपनीयसमायुक्तं पाययेत् संसनं परम् ॥

विरुद्धस्रोतसस्तस्य दोषेषु स्त्रंसितेषु च ।

मुखं तदग्रहणं कर्तुं पाचनं स्तम्भ एव च ॥

✓ (आमश्लेष्मातिसारयोगाः ।)

हरीतकीं त्रिकटुकं हिङ्गु सौवर्चलां वचाम् ।

शुक्तामतिविषां चैव पाययेदुष्णवारिणा ॥

वतयं (?) मनिमुद्धानं अतिसारं सवेदनम् ।

स्थापयत्यति संवृद्धं विलेपमरुणालये (?) ॥

हरीतकी सातिविषा हिङ्गु, सौवर्चला वसा ।

सैन्धवं चेति वि(पि)ष्टानि पाययेदुष्णवारिणा ॥

अमातिसारयोगीयं विधि(हि)व(त)स्तु चिकित्सकैः ।

युक्तकाथः प्रयोक्तव्यो वेद्येनापि यशोर्थिना ॥

अमातिसारो योगाभ्यां योगाभ्यां न निवर्तते ।

न स सौ(सा)धयितुं शक्यो ह्यत्ये(न्यैः) मार्गशतैरपि ॥

भूयिष्ठमामप्रभवः कुक्षिरोगः कथात्मिकः ।

प्रवर्तते नृणां तस्य शृणु सम्यक् चिकित्सितम् ॥

चित्रकः पिप्पलीमूलं वचा कटुकरोहिणी ।

पाठा वत्सकबीजानि हरीतक्यो महौषधम् ॥

एतदामसमुत्थानं अतिसारं सवेदनम् ।
 कफात्मकं सपित्तं च वर्चो वध्नाति च ध्रुवम् ॥
 पाठा वचा त्रिकटुकं कुष्ठः कटुकरोहिणी ।
 त(व)त्सादु(दि)वि(नो)तान्येतानि श्लेष्मातीसारनाशनम् ॥
 भल्लातकं शक्रयवाः पाठा कटुकरोहिणी ।
 यवान्यजाजिशुष्कं च चित्रकोऽतिविषा वचा ॥
 क(श)टौ पुष्करमूलं च तथा हिङ्गु हरौतकी ।
 सौवर्चलं शृङ्गिबेरं गवां मूत्रेण पेषयेत् ॥
 बटकानक्षमात्रांस्तान् क्वाया शुष्कं निदापयेत् ।
 तेषामेकं दिवा द्वौ वा सुखोष्णो न नि(च)वरिणा ॥
 एतद्वा(द्वय)मसमुत्थानमतिसारं सवेदनम् ।
 म(नु)दु(द)त्यर्शांसि च तथा तमांसीव दिवाकरः ॥
 गृह्णी दीपनीयाश्च ये योगाः परिकीर्तिताः ।
 श्लेष्मातिसारिते कार्याः क्षाम(रः)क्षारगुडस्तथा ॥
 एतदामातिसाराणां श्लेष्मातीसारिणामपि ।

(पित्तातीसारचिकित्सा ।)

चिकित्सितं समाख्यातं पित्तातिसारिणां शृणु ॥
 अतिसारसु यः पित्तादुद्धोति(तौ) सार वी(ए)व सः ।
 पाचितं स्तम्भयेदेनं यथावत्तं निबोधत ॥
 विडं बिल्वशलाटूनि तिन्त्रिणीक्तं सदाडिमम् ।
 सौवर्चलं धातकी च समंगा चेति तत्समम् ॥
 कल्कपिष्टं भवेत् पेयं कात्यमुष्णं न वारिणा ।
 पित्तातिसारशूलार्तः नरः सद्यः चिकित्सिते ॥

(पित्तातिसारे योगान्तरम् ।)

रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलं त्वचम् ।
 धातकीं शृङ्गिबेरं च पाययेत्तण्डुलाब्जना ॥

गोक्षीरयुक्तो नुदति पित्तातीसारमुल्लक्षणम् ।
मन्दं दीपयते चाग्निं शूलं चाशु निवर्तयेत् ॥

(तृतीययोगः ।)

पाठादारू हरिद्राजी पिप्पलीमूलमेव च ।
फलत्वचे वत्सकस्य शृङ्गिवेरं तथैव च ॥
एतानि कल्कपेष्याणि पाययेत्तण्डुलाम्बुना ।

(पित्तातीसारे चतुर्थो योगः ।)

अम्बुष्ठकी शिलाहृन्धं धातकी चास्त्रवेतसम् ॥
उशिरं वालक्रीवेरं दाडिमत्वङ्महौषधम् ।
जम्बूफलं कपित्थस्य मध्वं बिल्वशलाटु च ॥
एतानि चैव तुल्यानि पाययेत्तण्डुलाम्बुना ।
माक्षिकयुक्तं नुदति पित्तातीसारलक्षणम् ॥
सवालांच समूलां च नाशयेत् परिकर्तिकाम् ।

(पित्तातीसारे पंचमो योगः ।)

समङ्गा निचुलं लोभ्रं धातकी मधुकं तथा ॥
वटलोभ्रप्रवालाश्च दाडिमस्य फलं त्वचम् ।
माषपर्णी शिलोद्भेदं साम्बुष्ठाकमथापि च ॥
पित्तातिसारे दातव्यं तण्डुलोदकसंयुतम् ।

(पित्तातीसारे षष्ठसप्तमयोगौ ।)

समङ्गा धातकीपुष्पं साम्बुष्ठाकमथापि च ॥
पित्तातिसारे पद्मं च तण्डुलाङ्गिः पिबेन्नरः ।
शशस्यैणस्य वा रक्तं मधुकं कृष्णमृत्तिका ॥
पित्तातिसारे दातव्यं तण्डुलोदकं संयुतम् ।
दृष्टपित्तातिसारसु गम्भीरस्थानमाश्रितः ॥
अतीव सार्यते रक्तं अतिसारस्य रक्तजः ।

(रक्तातिसारे योगः ।)

नीलोत्पलं बिल्वतिला मधुकं गुडशर्करा ॥
केसरं पुण्डरीकस्य कुमुदं चौद्रमेव च ।
अजेन पयसा पि(पौ)तृतं(तं) रक्ताति(ती)सारनाशनम् ॥
निर्वाहि.....।

(शूलातिसार चिकित्सा ।)

अथास्यवर्चीजननीमनुयुक्तिं प्रदापयेत् (?) ।
दीप्ताग्निक्षीणमांसस्य सशूलस्यातिसारिणः ॥

(वातोतीसार चिकित्सा ।)

अजस्य महतो मद्यावेशवारं सशोणितम् (?) ।
दध्नाऽथय(वा)पाकसिद्धं गुडत्रिकटुकान्वितम् ॥
तेन संभोजयेत्क्वाथं मृदुसुस्विन्नदेहिनम् ।
कल्पेनैतेन वाराहं कांच मांसं च (?) कारयेत् ॥
एतेनैव च कल्पेन कारयेच्चरणायुधान् ।
तित्तिनीन् कच्छपान् लाभा(वा)न् मयूरान् (सू)करानपि ॥
वातातिसारिणामेतत् समाख्यातं चिकित्सितम् ।
वातातिसारे कर्तव्यं सर्वमर्शः(ः) चिकित्सितम् ॥

(अतीसारे आश्वासनाद्यावश्यकता ॥)

भयाद्वा यदि वा शोकाद्योऽतिसारः प्रवर्तते ।
यः कुप्यति ततो दोषः तस्य कुर्याच्चिकित्सितम् ॥
नित्यमाश्वासयेयुक्तं(स्त) सुहृदश्च विपश्चितः ॥
मनः प्रहृष्टं कुर्याच्च तदा संपद्यते सुखी ।

(वर्जनीयातिसारिणः ।)

सर्वगात्रपरिस्तब्धो विवर्णः स्तिमितश्च यः ॥
न च दुःखं विजानीते परिवर्ज्यस्तथाविधः ।
यस्य केशाः प्रलुप्यन्ते बलं वर्णः(ः) च हीयते ॥
विचेष्टमानो यश्चैतैः सर्वगात्राणि विच्छिबेत् ॥

स्तब्धगान्धो न संहारी परिवर्ज्यस्तथाविधः ।
 हनुं र(द)शति योऽत्यर्थं न वेदयति योऽसुखम् ॥
 विप्रकीर्णमुखो यश्च न स जोवति तद्विधः ।
 जिह्वां खादति चात्यर्थं गतायुरिति निर्दिशेत् ॥

(असाध्यातिसारचिकित्सा निन्दा ।)

संरक्षस्वै(न्वै) यशः प्राज्ञो नचैनं समुपाचरेत् ।
 अर्थघ्नं च यशोघ्नं च न कर्म समुपाचरेत् ॥
 दृष्ट्वा साध्यमसाध्यं च यः करोति स सिद्धयति ।
 पूजां च लभतेऽत्यर्थं विद्वत्सु च विराजते ॥

इति भेले चिकित्सिते दशमोऽध्यायः ॥

(विषूचिकालक्षणम् ।)

विषूच्यास्तु प्रवक्ष्यामि चिकित्सां लक्षणानि च ॥
 विरुद्धगुरुभि(पि)ष्टान्नशाकरूक्षरसाशिनाम् ।
 अजीर्णभोजनान्नित्यं तयः कुप्यन्ति धातवः ॥
 तद्दोषबलमुद्भूतं मारुतेन विघट्टितम् ।
 अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च स्त्रोतांसि निरुणद्धति ॥
 रुद्धैश्च मारुते रुद्धे स्त्रोतांसि निरुणद्धि च ।
 तेषु दोषपरि(रा)स्तेषु दुष्टेनान्नरसेन च ॥
 जर्ध्वं चाधश्च वेगस्थ(स्स) कथंचित्संप्रवर्तते ।
 सोऽविलम्बं वि(ज)ग(न)र्ह(य)न्ति(ति) विषकल्पां विषूचिकाम् ॥
 ...यथोत्पन्नरसो दहेषु विषमाश्रितः ।
 नाडीस्स(स्त)न्ना(त्रा)कुलीकृत्य वर्धयेत्तु बलासकम् ॥
 तस्य कासो ज्वरो मूर्च्छा भक्तदेषो विवर्णता ।
 ग्लानिश्चैवाविपाकश्च श्लेष्मशीकः प्रभा(दा)हिका ॥
 उरोघातस्तदात्यर्थं हृद्रोगश्च..... ।
गात्रहानिश्च सोऽलसो नाम दारुणः ॥

उत्केशो वेपथुः च्छर्दिः विदाहे(हः)चेष्टसं(नं)ज्वरम् ।
 श्वासात्मा(स्मा)नं (स) शक्नोद्दे(धो) विद्व(द्वि)ष्टाहारलक्षणम् ॥
 श्लेष्मः प्रशिरकासश्च जृम्भणं हृदयग्रहः ।
 तथाश्वासश्च कासश्च पार्श्वशीर्षरुजान्विताः ॥

(विषूची पूर्वरूपाणि ।)

विषूच्याः(ः) स(पू)र्वरूपाणि स्वेदो गात्रस्यशि(शी)त(ता) ।
 उन्नारो गुरुकोष्ठत्वं भूतानिलशक्तदग्रहः ॥
 एतत् पञ्चविधं प्रोक्तमन्नविभ्रमलक्षणम् ।

(समासेन विषूचीचिकित्सा ।)

चिकित्सां तत्र कुर्वीत सर्वमासातिसारिणाम् ॥
 उपद्रवाश्च ये प्रोक्ताः विषूच्यामलसे य(त)था ।
 तां (तान्) चिकित्सेद्विषक् सम्यक् यथा स्वेदे चिकित्सिते ॥
 एतद्विषूच्यामाख्यातं समासेन चिकित्सितम् ।

(विषूच्यामुष्णलवणाम्बुकारककषाय-मुस्तादि

कल्कादि वमनचिकित्सा ।)

क्रूरत्वादस्य रोगस्य भूयो वक्ष्यामि विस्तरम् ॥
 विषूच्याः पूर्वरूपाणि तं(सं) निश(ा)म्य चिकित्सकः ।
 वमनं कारयेत् क्षिप्रमुष्णो(ष्णे)न लवणाम्बुना ॥
 यावत् स तिष्ठेत्तस्य न्या(स्यात्)नान्यदुद्धरणोन्मुखम् ।
 कारकं च कषायं स्यादथवाऽर्जुनखादिरम् ॥
 पि(पी)त्तं(तं) कषायं वमनं सद्यो हन्ति विषूचिकाम् ।
 तथा मुस्तादिकं कल्कं पिप्पलीकल्कसंयुतम् ।
 पीतं कोष्णेन तोयेन हन्यात् क्षिप्रं विषूचिकाम् ॥
 विरूद्धा हि रसा भुक्ता दूषिताः पवनादिभिः ॥
 विषीभवन्ति देहेषु पूर्ववृद्धि(द्वै)र्मलाशयैः ।
 तस्माद्विषसमा ह्याशु क्रियाः सर्वाः प्रयोजयेत् ॥

(विषूच्यां धूम-कषायवर्त्ति प्रदेहादि चिकित्सा ।)

धूमाः कषाया वर्त्यश्च प्रदेहोत्सादनानि च ।
 अव(व) पि(पी)डान् प्रधमनमग्निकर्मोपनाश(ह)नम् ॥
 संस्पर्शानपहारांश्च विषूच्यां कारयेत् क्रियाम् ।
 भस्मातकीं त्रिकटुकीं पूतिकं चवकं बलाम् ॥
 लशुनं फणिज्जकं कुष्ठं कद(र)ञ्जस्य फलानि च ।
 त्रिफलां च यवानां(नीं) च कुटजस्य फलानि च ॥
 वर्तिमेतां शिवां नाम वस्तुमूत्रेण पेषयेत् ।
 विषूचलाक्षाक्षारश्च जायते,..... ॥ (?)

इति भेले चिकित्सिते एकादशोऽध्यायः ।

.....

(अर्दितलक्षणं स्नेहपानादि चिकित्सा च ।)

हनुम्यां सिष्टहोताभ्यां अव्यक्तं व्याहरत्यपि ।
 सुसंघतहनुर्वापि न व्याहरति किञ्चन ॥
 स्नेहपानानि नस्यं च स्वेदाः प्रत्यशनानि च ।
 उपनाहश्च प(श)स्यन्ते वस्तयस्वार्थि(र्दि)ते हिताः ॥
 धव्या(न्या)रसालयोर्द्रोणि व सालाभेनचाटके (?) ।
 आनूपोदक नित्यानां मांसान्यपि च लाभतः ॥
 तिलान् कुलुत्थान् माषांश्च बदराणि यवान् बलाम् ।
 हे पञ्चमूर्त्यां(ल्यौ) रास्नां च शतवेगां शतावरीम् ॥
 एतत् सर्वं समाहृत्य साधयेन्मृदुनाऽग्निना ।
 बाष्पेणोच्चतरातेन (?) नातिस्वेदेन स्वेदयेत् ॥
 तैलमेभिश्च विपचेदभ्यङ्गे (ज्जग्रा)च्च पिबेच्च तत् ।
 एतदेव च संभारमुपनाहं च कारयेत् ॥
 यच्चिकित्सितमाख्यातं वातव्याधिविनाशनम् ।
 तदेव सर्वं निखिलमर्धि(र्दि)तेष्वपि कारयेत् ॥

महास्नेहं बलातैलं तैलं शैरीषमेव वा ।
 पानाभ्यङ्गे च नस्येषु वस्तौ वापि प्रयोजयेत् ॥
 अ(आ)नूपानि च मांसानि दशवारं प्रकुट्टयेत् ।
 नातिस्निग्धेन तेनास्य कारयेदुपनाहनम् ॥

(श्लेष्मोपष्टब्धार्दितलक्षणम् ।)

श्लेष्मणा समुपस्तब्धो यस्येह पवनो भवेत् ।
 मन्ययोर्मूर्ध्नि गण्डे च शोषस्तस्योपजायते ॥
 मूको निद्रापरीतश्च कण्ठनिश्वासितो भृशम् ।
 भृशं लालापरीतश्च-(का) मज्जिंहा(ही) कृतोदरः ॥
 श्लेष्मोपष्टब्धमेतादृगर्थि(र्दि)तं परिकीर्तितम् ।
 तस्यानुवासनं कुर्यात् तदा(था) शीर्म(र्ष)विरचनम् ॥
 बिल्वकेन विरिक्तव्यो भवेद्विम्बिष्टते न च ।
 पुराणं वा पिबेत्सर्पिर्धूमं तौक्ष्णं पिबेत्तदा ॥
 श्लेष्मण्युपरते तस्य वृंहणं समुपक्रमः(मेत्) ।
 वातव्याधि चिकित्सां च यथोक्तां समुपाचरेत् ॥
 स्थानं तत्र च कफा-वायुरागन्तुरुच्यते ।
 तस्मात्तयोर्गतिं दृष्ट्वा वातघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते षड्विंशो(द्वादशो)ऽध्यायः ॥

अथातो ग्रहणीचिकित्सां व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(ग्रहण्युत्पत्तिक्रमः ।)

अग्निर्वायुर्मनुष्याणां प्राण(१)स्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
बलमारोग्यमायुश्च सुखः दुःखं तदाश्रयम् ॥
स्त्रियते ह्युपशान्तेऽग्नौ युक्ते चोष्णि मे(जी)वति ।
तस्मात्प्राणायुषि(षी) विद्यादग्निमूले शरीरिणाम् ॥
सोग्निस्समुचितं भुक्तं रसाय वितनोत्यधः ।
तेनेन्द्रियबलं पुष्टिं वर्णं च लभते नरः ॥
चतुर्विधं पचत्यग्निः समं तीक्ष्णं तथा मृदु ।
विषमं चेति तेषां तु यस्समोऽग्निरस शस्यते ॥
भजतां गुरु रूक्षं च दिवा स्वप्नं च नित्यशः ।
रात्रौ सदारं स्वपतां तथा वेगविधारिणाम् ॥
अध्य(त्य)श्रतामजोर्णेन अतिस्नेहविवे(रे)किणाम् ।
ज्वरान्मध्य(द्य) प्रसङ्गाच्च तथाऽसारम्यविषेवणात् ॥
मधुर क्षीरनित्यानां तथा जलविहारिणाम् ।
पिष्टान्नर्दाधशकानामह्वानां निषेवणात् ॥
ईदृशैर्ग्रहणी जन्तोर्दूष्यतेऽतिनिषेवितैः ।
मन्दा ति(ती)क्षा(क्षाऽ)तिविषमा त्रिविधं सा प्रकुप्यति ॥

(ग्रहणीदोषज व्याधयः ।)

तथा रोगाः प्रवर्तन्ते ग्रहणी दोषजा नृणाम् ।
ज्वरः कासः पाण्डुरोगः श्वयथुः परिकी(क)र्तिता(का) ॥
आरुचिश्चाविपाकश्च गुल्मार्शांसि भगन्धरम् ।
अतिसारश्च कुष्ठश्च शूलान्वलसको भ्रमः ॥

एताँस्थान्याँश्च जनयेद्रोगानस्थ विलासिनः ।

ग्रहणी दूषिता(तैः) जन्तोः समा रोगा(न)ह(स)न्ति वा(वै) ।

(मन्द-मृदु-विषमात्यग्निलक्षणानि ।)

यस्याक्रान्ते हि कायाग्नी स्नेहणा मधुरा(शि)शनः ।

न पचतेऽन्नं कालेन स मन्दाग्निरिति स्मृतम् ।

अग्नी मन्दे कफेनास्य शीघ्रं भुक्तं न पचते ।

स भूयो मृदुतां यान्ति(ति) गुरुभोजनदूषितः ।

एवं रूपं च वृद्धैश्च कफे(फैः) त(य)स्य नियच्छति ।

एवं स विषमो नाम ग्रहणीदोष उच्यते ।

अग्निः सोमक्षयाद्यस्य भृशं देहे प्रकुप्यति ।

भुक्तं भुक्तं जीरयते न च वर्णवलाय च ।

भुक्ते भुक्ते क्षुधान्य(प्य)स्य जायते न च पुष्यति ।

अत्यग्निरिति तं विद्यात्स च दुःखितमः स्मृतः ।

(ग्रहणी चिकित्सा ।)

इत्येष रोगस्त्रिविधः गृहणीसंश्रितो मया ।

प्रोक्तस्तस्य चिकित्सां तु विस्तरेण निबोध मे ।

धान्वन्तरं पिबेत् सर्पिः प्राजापत्यमथापि वा ।

ततोऽस्मै वमनं दद्यात्ततश्चोर्ध्वं विरेचनम् ।

पिप्पलीवर्धमानं वा पिबेत् क्षारघृतानपि ।

तक्रं(र) मां(स)वं पिबेच्चापि गण्डि(गण्डी)रारिष्टमेव वा ।

दाधिकं वा पिबेत्सर्पिः(ः) तैलं शैरीषमेव वा ।

महद्यत्वं च गम्यं वा.....

.....

(इति भेले चिकित्सिते त्रयोदशोऽध्यायः ।)

(मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा ।)

ताळपत्रकषायांस्तु मूत्राघातेषु दापयेत् ।
 भोजनं क्रीडामांसेन मा(मू)त्राघातेन(षु)षु(श)स्यते ।
 पिष्ट्वा तु तस्य चैवास्थि क्षीरेण सह पाययेत् ।
 मूत्रकृच्छ्राणि शमयेदश्मरीं च भिनत्त्यपि ।
 एभिर्यदि प्रयोगैस्तु शर्करा नोपशाम्यति ।
 तामुद्धरेच्छल्यहर्ता दृष्टकर्मा बहुश्रुतः ।
 प्रतिघातादिन्द्रियस्य यस्य कृच्छ्रं प्रवर्तते ।
 अनुसन्नं च शूलं च शृणु तस्य चिकित्सितम् ।
 बलातैलेन स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुपरिषेचितम् ।
 आस्थापयेत् पाचने च मुस्ताद्येन तु वस्तिना ।
 पथ्यागते निरूपे(हि)ण भोजयेत्सिद्धमोदनम् ।
 तनुना मुद्गयोषेण जाङ्गलेन रसेन वा ।
 ततस्तु शुद्धाम्बरया नार्या स्नातानुलिप्तया ।
 द्रष्टया संविशेत्सार्धं कल्याणगुणयुक्तया ।
 विशुद्धरेतसे मार्गे मारुतः प्रगुणी भवेत् ।
 संस्थानं मारुते प्राप्ते कृच्छ्रं तस्य निवर्तते ।
 अष्टानां मूत्रकृच्छ्राणां एतदुक्तं चिकित्सितम् ।
 रूपाणि चैव सर्वेषां शिष्याणामर्थसिद्धये ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते एकाद(चतुर्द)शोऽध्यायः ॥

अथात उदरचिकित्सां व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(वातोदर लक्षणम् ।)

भाराभिहतदेहस्य कटुतिक्तोपसेविनः ।
वायुस्त्वर्शरीरस्थो दुष्टो वातहता(ः)शिराः ।
गत्वापि पूरये(त्)कोपं(ष्ठं) तथाक्षानं करोति च ।
दृतिवच्च समुन्नद्धं उदरं स्यात्समन्ततः ।
कृष्णराजि शिरावद्धं कृष्णरोमाचितं तथा ।
एतद्द्वारो(तो)दरं विद्यात् एतैर्लिङ्गैस्समन्वितम् ।

(कफोदर लक्षणम् ।)

उष्णाभितप्तो यो जन्तुर्विदाह(ही)न्युपसेवते ।
व्यायामीपरतश्चैव श्रान्तो यश्चोदकं पिबेत् ।
तस्य देहे कफो दुष्टः सिराः कफावहा गतः ।
उत्सन्नो दूषितश्चापि कोष्ठमस्थन्तदा(रा)श्रितः ।
सर्वमादापयेत्कोष्ठं वेदनां च करोति सः ।
शुक्लराजि शिरावद्धं च शुक्लरोमाचितं तथा ।
तस्य सीदन्ति गात्राणि मुखस्त्रावस्य(श्च) जायते ।
दुर्गन्धितास्य मूल(त्र)स्य स(तत्) कफोदरि(र)लक्षणम् ।

(सन्निपातोदर लक्षणम् ।)

समश्रुतः सर्वरसान् मिथ्याहारविहारिणः ।
तस्यान्य(प्य)धमिवात्यर्थमुदरं संप्रकाशते ।
नानाराजिशिरानद्धं नानारोमाचितं तथा ।
तथा नानावेदनाद्यमुदरं सान्निपातिकम् ।

(दूष्योदर सान्निपातिक लक्षणम् ।)

आमनन्द्युदरं नार्योनरमालोदरं यथा ।
कर्णं रोधकृतं चापि शुक्लं जिह्वामलं नखम् ।
यदाऽस्य मेदो रोमाणि स्त्रीणामार्तवशोणितम् ।
पुरीषं च प्रय(ग)च्छन्ति रक्तो(क्तं) दुष्टोदरं भवेत् ।
सर्ववर्णशिरानङ्गं नीलपीतप्रभं तथा ।
स्त्रीणां दूष्योदरं नाम जायते सान्निपा(फि)तकम् ।

(असाध्य दूष्योदर लक्षणम् ।)

तस्याङ्गमर्दः कासश्च श्वासो हिक्का च जायते ।
निद्रा तन्द्रा तथाऽऽलस्यं दाहश्चाङ्गगती भवेत् ।
सदनं सर्वगात्राणां शोषणं पाण्डुवर्णता ।
विषपीते च यल्लिङ्गं तच्च तस्योपजायते ।
एवं दूष्योदरत्वे तैर्लिङ्गैर्मरणमृच्छति ।

(उदकोदर लक्षणम् ।)

अभुक्ता यः पिवेन्नित्यं उदकं प्रातरुत्थितम्(ः) ।
वर्षाहेमन्तकालेषु पिवेद्यश्चोदकं बहु ।
तस्योदरेऽधिका षोडा चाप्यतः संप्रपद्यते ।
सदनं रोमहर्षश्च शीताग्नित्वं शिरोग्रहः ।
तथा स्निग्धवभासं च स्निग्धरोमाचितं च यत् ।
एतैर्लिङ्गैस्समस्तैस्तु नृणां तदुदरो(को)दरम् ।

(संस्त्रावि जठर लक्षणम् ।)

शङ्कुना स्नायुभेदेन मत्स्यानां वा ध(थ)कण्टकैः ।
शकृत्तृणाग्रैर्वा भक्तैरात्रं(न्तं) विभिद्यते ।
तेनान्नपानं छिद्रेण स्त्रवेत्तस्यान्तरोदरे ।
उन्नतं जायते तस्मादुदरं स्यात्समन्ततः ।
निधायतं जायते चत्वरै जठरसन्निभौ (?) ।
संस्त्राविणि च जठरं(रे) लक्षणं परिकीर्तितम् ।

(बद्धगुदोदर लक्षणम् ।)

यः प्लवेल्लङ्घयेद्वापि यश्च न प्लवते नरः ।
 तेनानु(स्थ)गं(जं)जा(घा) तुयन्ते बध्यन्ते चाप्यथैकतः ।
 यथा सुक्षैश्च वातैश्च भुक्तैरान्त्रं निवेष्टयते ।
 तेन बद्धं गुदं नृणां जायतेऽन्त्र प्रपीडनात् ।
 उक्षिप्तकुक्षिर्भवति तथा संक्षिप्तमेहनः ।
 शूनाक्षः शूनवृषणः शूनहस्तस्तथैव च ।
 शूनपादगुदश्चैव सुप्ताङ्गश्चापि जायते ।
 नतोन्नत्तिः(त) समश्चापि नरो बद्धोदरो भवेत् ।
 आम्रधान्ययवान् यस्तु नरो भुङ्क्ते निषेवते ।
 सकेसरं फलं चापि भक्षयित्वोदकं पिबेत् ।
 हस्त्यश्वरथभयानं च भुक्तमा(?)।

(सर्वोदर चिकित्सा यां सुवर्ण चूर्णम् ।)

समरीचं.....द्वौ क्षारौ त्रिफला वचा ।
 यवान्यो(ः) कुञ्चिका हिङ्गु तिन्ती(न्ति)णि(णी)कान्धवेतसः ।
 धान्याजगन्धा चायन्ती दाडिमं सय(प्त)वार्षिकम् ।
 कटुका-कटु-जंबीजं(रं) सैन्धवं च समान् भिषक् ।
 तट्टत्ता समला दन्ती कं पिप्पलं नीलिकाऽभया ।
 सुवर्णक्षोरी द्विगुणं सर्वाण्येतानि चूर्णयेत् ।
 अजे गन्धेऽथवा मूत्रे सप्ताहं परिभाव्य तम् ।
 द्विगुणं शर्करा चात्र दापयेत्त्राङ्गुलं पिबेत् ।
 गोमूत्रत्रिफलाक्षाररसैर्मध्ये(द्वै)सुखाम्बुना ।
 सुवर्णसमकं चूर्णं सर्वरोगार्तिभेषजम् ।
 सर्वोदरे प्लिहशोषगुल्महृद्गोगनाशनम् ।
 वाताष्टीना(ला)मथाऽऽनाहं श्वयथुं सर्वगात्रजम् ।
 हलीमसमिलापाण्डुप्रमेहज्वरगुल्मिनाम् ।
 जीविते संशयं कृत्वा तगरुजितरिपिबेत् (?) ।

(छिद्रोदरे शस्त्र चिकित्सा ।)

तप्तुसो(सं) वारुक् चापि मूलकं चापि दंशयेत् (?) ।
 क्रुद्धेन कृष्णसर्पेण जठरि(रो)तानि भक्षयेत् ।
 विपाद्यमानं कुक्षिं च छिद्रमान्त्रस्य वीक्ष्य च ।
 ततः पिपीलिकादंशं छिद्रमान्त्रस्य दापययेत् ।
 आन्त्रच्छिद्रे संगृहीते सि(सी)ये(व्ये)कुक्षिं ।

ततो भिषक् ॥

एवं छिद्रोदरं वैद्यः शल्यकर्तृरुपाचरेत् ।

(वज्रगुदोदरे शस्त्रक्रिया ।)

तथा वज्रगुदं चैव पाटयेच्छल्यशस्त्रवित् ।
 गुञ्जान् पलान् तथोद्भृत्य वज्रं सि(सी)न्ये(व्ये)ततो भिषक् ।
 उदक् भवन्ति सर्वाणि जठराण्यक्रियावताम् ।
 व्यथनं तेषु कुर्वीत शल्यकर्तुः प्रयोगवित् ।
 वामे पार्श्वे तु(त्व)धे(धः) कुक्षेः मुक्ता च चतुरङ्गुलम् ।
 नाभ्या वा प्रणयेच्छस्त्रं मात्रायुक्तं चिकित्सकः ।
 विस्त्रावयेच्च (ज)ठरं भिषगामयपोडनम् ।
 मर्दयेदुदरं चान्य(स्य) वेष्टये(नि)न तु वेष्टयेत् ।
 वेष्टितं जठरं चास्य नाभ्यापयति मारुतः ।
 पिबेद्यवागूं च ततो लवणस्नेहवर्जिताम् ।
 ततः परंतु क्षीरेण मासार्धं समुपाचरेत् ।
 ततः क्षीरयवागूं तु त्रीन्मासांस्तु यवान्भिषक् ।
 भुञ्जीतालवणं तस्मात् त्रीन्मासान् लघुभोजनम् ।
 ततस्सलवणे मेलं मुच्यते तूदरेऽपि च ।
 केतूदराणामत्यन्ति लवणं योगवाहितः(नः) ।

✓ (जठरेऽग्निकर्मादि ।)

केचित्तु जठरे प्राहुरग्निकर्म चिकित्सकाः ।
 अजाततोये जठरे पूतनो मध्यदारयेत् (?) ।
 प्लिहोदरं हि हित्य(त्वा)ऽग्निः जयेत्तस्माद्विशेषतः ।

निवृत्तिर्वर्णिता तत्र सलिलोदर खेदिनः ।
यावत्पच्यप्रकोदरम् (?) ।
 मण्डलं निर्मितं यच्च श्वायदु मृदुः (?) ।
 अरोची निष्पदं चैव नचराग्निस्तमाकुलम् (?) ।
 आक्रम्यमाणिनाभ्यां तु मृदुरेव हि वर्षति (?) ।
पिचनैश्चविनिर्दिशेत् (?) ।
 क्रियायतिश्च सर्वाणि सक्रियाभिश्च देहिनाम् ।

(भस्मातकयोगः ।)

भस्मातकानां पवनाहतानां
 वृत्तच्युतानामिह वा(चा)ध(ठ)कं स्यात् ।
 तदिष्टकाचूर्णकणैः प्रघृष्य
 प्रक्षालयित्वा विसृजेद्(च)पा(ता)ते(पे)
 शुष्कं पुनस्तद्विदलीकृतं च
 विनिक्षिपेदप्सु चतुर्गुणासु ।
 पादावशिष्टं परिपूतशीतं
 क्षीरेण तुल्येन पुनः पचेत् ॥
 तदर्धया शर्करायावगातं(ठं)
 लोहं भयाव्योषकचूर्णयुक्तम् ।
 एतत्समं शर्करापादयुक्तं
 ददत् खजेनोय(न्म)वि(यि)धं(तं) विधाय ।
 प्रस्थद्वयेनामलकी मधूनां
 शीतेव(न) तुल्ये न पुनः पचेत् ॥
 तत्त्व(त्स)सरात्वादुपजातवीर्यं
 सुधारसादप्यधिकत्वमेति ॥
 प्राग(क्ज)न्त(न्म)शुद्धी(कृत)देहभाजां
 कृतान्तदेवात्मशरीरयोगिनाम् ॥
 नचान्नपाने परिहार्यमस्ति
 नवोष्णवाताध्वनि मैथुने च ॥

जन्तुर्नितान्तं नरसिंहवत्स्यात्
 भवेन्नरः काञ्चनराशिसारः ।
 दन्ताश्च शीर्णाः पुनरुद्भवन्ति
 केशश्च शुक्लः पुनरेति कृष्णः ॥
 विशीर्णकर्णांगुलिपाणिकोटि
 कृता(शा)र्जि(र्दि)तो (यश्च) विदन्ती(न्त) कुष्ठः ॥
 सोऽपि क्रमेणाङ्गुलिगात्रशाखो
 तरुर्यथा रोहति वारिसिक्तः ।
 महामयूरान् जयति खरेण
 बलेन नागान् तुरगान् जवेन ॥

.....
 (इति भेले चिकित्सिते पंचदशोऽध्यायः ।)

(जरुस्तम्भे वंशकादि योगः ।)

वंशको नक्तमालश्च मूर्वा कटुकरोहिणी ।
 तत्कारी प्रग्रहश्चैव पीलूनि निचुलानि च ।
 असनस्सप्तपर्णश्च त्रिफला मरिचानि च ।
 एतानि समभागानि कषायमुपसाधयेत् ।
 एतान्येव च चूर्णानि मात्सिकेण पिवेन्नरः ।
 अनेनेव कषायेण भोजयेत्सिद्धमोदनम् ।
 पित्तुमन्दस्य मूलानि चित्रको हस्तिपिप्पलीः ।
 त्वक्पत्रफलमूलानि करञ्जास्पर्षपास्तथा ।
 तुल्यान्येतानि सर्वाणि वल्लीकस्य च मृत्तिका ।
 गवां मूत्रेण पिष्टानि श्लक्ष्णान्युद्वर्तनं वरम् ।

(जरुस्तम्भे रास्नाद्युद्वर्तन योगः ।)

रास्ना वचा ह्यर्कमूलं हिंसा दन्ती तथैव च ।
 शतपुष्पा च कुष्ठा च द्वे हरिद्रे पुनर्नवा ।

अश्वमूत्रे त्वपामार्गे शारिभा(वा)नक्तमालिका ।
वल्मीकमृत्तिका युक्तमेतैरुद्वदनं परम् ।

(जरुस्तम्भे करजादिलेपः ।)

करजस्मुरसो बिल्वा देवदारु वचार्जुनः ।
तर्कारी मेघशृङ्गी च सौभाञ्जनक आरली ।
उभे बृहत्यौ स्योनाकः श्वदंष्ट्रा खदिरासनौ ।
जलैस्त्रिद्वैरिमै(?)स्तुल्यैः कषायपरिषेचनम् ।
एतैरेवौषधैस्तुल्यैः क्षीरपिष्टं(ष्टैः) प्रलेपयेत् ।
अनेन विधिना शोघ्रमूरुस्तम्भः प्रशाम्यति ।

(द्विपञ्चमूल्यादि तैलम् ।)

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफला चित्रको देवदारु च ।
एकाष्टि(ष्टी)ला त्वपामार्गा श्रेयसी वायसि(सी) सुधा ।
काला भार्जि(ङ्गी)पृथक्पर्णी सुवहा मदयन्तिका ।
काश्मरो च विशल्या च हिंसा हेन्योपदार्विकः(?) ।
चिरबिल्वो ह्यशोकश्च बला चांशुमति(ती)तथा ।
वयस्या पौलुपर्णी च पाठा च शतावरी ।
एषां पञ्चपलान् पूतान् जलद्रोणेषु सप्तसु ।
अष्टभागावशेषं च पचेत्तैलादी(ठ)कं शनैः ।
कुष्ठं च शतपुष्पा च चित्रकः त्रूषणं तथा ।
देवदारुगुरुश्रेष्ठं विडङ्गं सुस्तमेव च ।
अश्वगन्धा च पाकौ(ठा) च मूर्वा स्योनाक एव च ।
पिप्पल्यः शृङ्गिवेरं च दन्ती हिङ्गुस्त्वैतसौ ।
कल्को नानेन वैद्यसु कषायेण सुसाधयेत् ।
सिद्धं शुष्कं च पूतं च क्षौद्राज्येनानुसंयजेत् ।
तदस्य दद्यात्पानार्थं तदि(दे)वाभ्य(ञ्ज)नादिषु ।
जरुस्तम्भश्चिरोत्पन्नः(?) तैलेनैतेन शाम्यति ।
श्लि(श्ली)व(प)दान्याद्यवातं (?) च खण्डपातांश्च नाशयेत् ।

(जरुस्तम्भे भेषजान्तराणि) ।

पिल्लीवर्धमानं वा माक्षीरे(के)ण जलेन वा ।
 जरुस्तम्भे प्रशंसन्ति ग(ण्डी)रारिष्टमेव वा ।
 चारा चारष्टताश्चैव निरुढां(हा)श्च पृथग्विधाः ।
 हरीतक्या प्रयोगो वा ह्यजरुस्तम्भे प्रशस्यते ।
 विलेख्यमानो हि यथा क्षीणमांसबलो भवेत् ।
 शरीररक्षणार्थाय भोजयेद्वृंहयेदपि ।
 भुञ्जीत षष्टिकान् जीर्णे पुराणाँश्चैव शालिकान् ।
 जाङ्गलानि च मांसानि सेवेत मृगपक्षिणाम् ।
 जरुस्तम्भपरीतो यो यदा वाताधिको भवेत् ।
 सम्यक् प्रोक्तमिदं सर्वं जरुस्तम्भचिकित्सितम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते त्रयोद(षोड)शोऽध्यायः ।

अथातो विसर्पवातशोणितं व्याख्यास्याम इति

ह स्नाह भगवानात्रेयः ।

(वातवीसर्प लक्षणम् ।)

वातात्पित्तात्कफाच्चैव सन्निपातात्कफादपि ।

विसर्पाः पञ्च निर्दिष्टाः तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ।

कषायकटुका(रू)चांश्च यो नित्यमुपसेवते ।

तस्य वायुः प्रकुपितः त्वग्रक्तं मांसमेव च ॥

सिराश्च समधिष्ठाय विसर्पं जनयेद्वलम् ।

पिपीलिका विसर्पन्ति(न्ती) मन्यते तु धृतेऽपि च ।

जृम्भिका तालुशोषश्च शूलपार्श्वज्वरो ग्रहः ।

घोरश्चारुणवर्णाभः श्वयथुः कृष्ण एव च ।

इत्येष वातवि(वी)सर्पः तस्य कर्मविधिं शृणु ।

(वातवीसर्प चिकित्सा ।)

गवां मूत्रं च क्षीरं च गोशङ्खद्रुसमेव वा ।

य(ष)ष्टि(कं)मधुसंयुक्तं एतदालेपनं परम् ।

पञ्चमूलि(ल्या) च तस्मिन् जलसेकः प्रशस्यते ।

शृङ्गाणि क्षीरवृक्षाणां मधुकं नीलमुत्पलम् ।

क्षीरसिद्धमिदं कोष्णं वातपी(वी)य(स)र्व(र्प)नाशनम् ।

एतैरेवौषधैस्त्वैः क्षीरवृ(पि)ष्टैः(ः) प्रलेपयेत् ।

सुखोष्णैर्वातवि(वी)सरै(र्पै) तथा संवि(प)द्यते सुखी ।

अथवा दधिमन्दे(न्ये)न तैलक्षीरघृतेन वा ।

सेचयन्ति सुखोष्णेन विसर्पे वातसंभवे ।

तस्य निर्वापणं कुर्यात् क्षीरेण परिषेचनम् ।

पीत्वा च तैल्लकं सर्पिः हरीतक्या विरेचनम् ।

अविदाहि(ही) नि चान्नानि भोजनार्थं प्रदापयेत् ।

क्षीरं च यवचूर्णं च घृतं चैवात्य(ति)साधयेत् ।

(पित्तवीसर्पात्पित्तिक्रमः तल्लक्षणं ।)

कटुस्त्वलवणक्षारतीक्ष्णं ह्ये(पै)ता(त्ता)नि चाश्रतः ।
 तस्य पित्तं प्रकुपितं शिरामांसत्वगाश्रितम् ।
 रक्तेन सह संसृष्टं शरीरे देहचेष्टितम् ।
 ज्वलयित्वा ज्वरं पूर्वं ज्वलताग्निशिखोपदु(म)म् ।
 विसर्पं जनयेत्तीव्रं दारुणं पित्तसंभवम् ।
 स्फोटास्तस्योपजायन्ते वज्रिरे(ने)व प्र(स)भौरिताः ।
 यत्र यत्र च जायन्ते स्फोटास्तत्र विलीयते ।
 हरिद्रं हरितं कृष्णं दोषं मुच्यत्यतेक्षणः(?) ।
 एषोऽग्निकल्पो विसर्पः पैत्तिको देह नाशनः ।

(पित्तवीसर्प चिकित्सा ।)

चिकित्सां तत्र कुर्वीत प्रत्यास्थाय चिकित्सकः ।
 विरेचनं स्नेहयुक्तं पाययेत्तं चिकित्सकः ।
 परिषेकांश्च कुर्वीत क्षीरैरिक्षुरसेन वा ।
 अभीक्ष्णं सेवयेच्चैव हिमकल्पेन वारिणा ।
 क्षीरवृक्षकषायैर्वा कषायैर्मधुकस्य वा ।
 प्रदेहस्य तु कुर्वीत शतधौतेन सर्पिषा ।
 मधुकोत्पलकल्कैस्तु क्षीरपिष्टैः प्रलेपयेत् ।
 मञ्जिष्ठापद्मकं पद्मं चन्दनं नीलमुत्पलम् ।
 मधूकं मधुकं द्राक्षा लामज्जककसेरुकः ।
 मृणालानि विदारौ च समुद्रान्ता शतावरो ।
 सहस्र(वी)र्या नलदः बला दन्ती मधूलिका ।
 एतानि समभागानि जलद्रोणे विभावयेत् ।
 एतैरेव कषायैश्च पिष्टै(ष्टै)श्चैव विपाचयेत् ।
 घृतं तस्य कृतेऽभ्यङ्गे विसर्ति(पै)पित्तसंभवे ।
 उपचक्रचकोराणां हंससारसयोरपि ।
 वसाः प्रदेहे शस्यन्ते विसर्पे पित्तसंभवे ।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ प्लक्षवेतसजास्तथा ।

कल्काः पञ्च प्रशस्यन्ते क्षीरवृ(पि)ष्टाः प्रलेपने ।

(श्लेष्मवीसर्पात्पत्तिक्रमः, तल्लक्षणं च ।)

श्लेष्मलास्य(न्य)न्नपानानि श्लेष्मलो यो निषेवते ।

तस्य श्लेष्मा प्रकुपितो रक्ते तिष्ठति देहिनः ।

ततोऽन्य(स्य) श्लेष्मवि(वी)सर्पो जायते मन्दवेदनः ।

स्फोटोऽपि तस्य जायन्ते श्वयथुः पाण्डुरेव च ।

तस्य तन्द्रा च निद्रा च ज्वरः कासः शिरोग्रहः ।

चिराच्च पाकं व्रजति विसर्पश्श्लेष्मसंभवः ।

(श्लेष्मवीसर्प चिकित्सा ।)

वमनं रचनं चैव कुर्यात्तस्य यथाबलम् ।

तैल्प(त्व)कं वा पिबेत्सर्पिः पुराणं घृतमेव वा ।

सर्जाश्वकर्णौ मुस्ता च सल्लकी सोमवल्कला ।

द्वौ करञ्जौ कपित्थत्वक् शिरीषोशि(शी)रशारिवाः(ः) ।

क्षीरवृक्षप्रवालानि कुटजत्वक् धनंजयः ।

धवः पलाशः स्योनाश(क)ः खट्विरो वेतसासनौ ।

कषायं साधयेदेतं(तैः) सुखोष्णेन च सेचयेत् ।

अजाक्षीरेण पिष्टैस्तु कल्कैरेतैः प्रलेपयेत् ।

तैलप्रस्थं पचेदेभिः कषायैरथ पेप्थिमैः(तै) ।

अभ्यञ्जनेन वीसर्पि(र्पी) श्लेष्मिकस्तेन शाम्यत(तिः) ।

गोमांसखण्डैरुष्णैश्च विसर्पमुपनाहयेत् ।

मज्जभिर्जाग(ङ्ग)ता(ला)नां च तदभृ(भ्य)ङ्गं प्रकल्पयेत् ।

मांसोपनाहं कुर्वीत श्लेष्मिके वातिकेऽपि वा ।

जाङ्गलैर्गव्यमायूरैः कुक्कुटैश्चा(श्ल)गतै(लै)रपि ।

(वातशोणितोत्पत्तिस्तल्लक्षणं च ।)

यथा(दा) प्रकुपिता दोषास्त्रयस्त्वङ्गसमाश्रिताः ।

रक्तेन सह संसृष्टाः शरीरोद्देशचेष्टिताः ।

संश्यामण्डलं तत्र जायते कृष्णमेव च ।
 अथ लोहितपर्यन्तं विसर्पति सवेदनम् ।
 ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च कर्दिर्मूर्च्छा भ्रमस्तथा ।
 यद्यच्च स्पृशते तेन तत्रोष्मा न निवर्तते ।
 दग्धेन शोणितेनान्नं शुष्कालाबुनिभं भवेत् ।

(वातशोणित चिकित्सा ।)

सुकुमारं बलातैलं तैलं शैरीषमेव वा ।
 धान्वन्तरं चापि घृतं पाययेद्वातशोणितम् ।
 पिप्पलीवर्धमानं वा तक्रासवमथापि वा ।
 खादिरं वा निषेवेत वातशोणितपौडितः ।
 नित्यमास्थापयेच्चैनं मुस्ताद्येन तु वस्तिना ।
 पाययेत वस्तिभ्यां अथवा (?) मधुतैलकैः ।
 यच्चिकित्सितमाख्यातं विसर्पे वातसंभवे ।
 तद्वातशोणितं सर्वं कर्तव्यं शोणितोत्तरे ।
 इति शोणितमाख्यातं गंभीरे वातशोणिते ।
 वातवन्तं चिकित्सेत स्नेहपानानुवासनैः ।
 मयूरकौचलावानां वसामज्जा च लाभतः ।
 पानेऽभ्यङ्गे च वस्तौ च बलातैलं प्रशस्यते ।
 अक्रियाभिः क्रियाभिर्वा नश्येद्यद्वातशोणितम् ।
 पाटनं तत्र कुर्वीत स्वल्पीकृत्य प्रयोगवित् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते चतुर्द(सप्तद)शोऽध्यायः ।

अथातोऽर्शां चिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्नाह भगवानात्रेयः ।

अर्शां निमित्तम् ।

वातात्पित्तात्कफाच्चैव सन्निपातास्त(त्त)थैव च ।
सहजानि च रक्ताश्च(च्च) षोडा(ढा)र्शांस्यथ देहिनाम् ।
तेषां निदानं वक्ष्यामि चिकित्सां चानुपूर्वशः ।
अदृश्यानां च यत्प्रोक्तं दृश्यानां च यथाक्रमम् ।
विदाहिगुरुरूक्षाणां आनूपोदकसे(ः)वनाम् ।
दधिदुग्धगुडादीनां पिशितानां च भोजिनाम् ।
यानानामुदकानां च दुष्टानामुपचारणात् ।
नित्याजीर्णभुजां चापि वेगानां च विधारणात् ।
प्रभा(वा)हणाच्चातिमात्रं मैथुनस्यातिसेवनात् ।
दुष्टपानप्रसङ्गाच्च कठिनात्पृष्ठपीडनात् ।
निरुहस्यातियोगाच्च वस्तिनां विभ्रमादपि ।
स्नेहपाने च विभ्रान्तात् मद्यदोषाश्रयात्क्षयात् ।
एभिः प्रकुपिता दोषा वातपित्तकफास्त्रयः ।
वि(ए)कशस्सर्वशो वातः द्वन्द्वशः शोणितेन वा ।
गुदाभिष्यन्दमेवाशु कुर्वन्ति गुदमाश्रिताः ।

(अर्शौलक्षणम् ।)

शि(कौ)लास्तत्र प्ररोहन्ति सूक्ष्मसर्पपसन्निभाः ।
यवमुद्गादिनिष्पाव कर्कन्दबदरोपमाः ।
शरीराङ्गुष्ठमात्रा वा ताम्रा गोस्तनसन्निभाः ।
निरुढास्ते गुदे शी(कौ)लाः स्तम्भयन्ति गुदं भृशम् ।
स्त्रोतसां गुदमानाहं मूलं बध्नन्ति वाप्यथ ।
निरोधात् स्त्रोतसां तेषामूर्ध्वदोषास्समुत्थिताः ।
एकैकं दूषयित्वा तु रोगात्कुर्वन्ति चातुरान् ।

(अशीं निदानम् ।)

पुरीषभेदं वैवर्ण्यं शूलं निर्वाहिका तथा ।
अवदारस्तृषा दाहो गुरुपृष्ठो मदो ज्वरः ।
अरुचिश्चाविपाकश्च गात्रज्ञे(क्ष)यबलक्षयो ।
पाण्डुत्वं पर्वभेदश्च श्वयथुश्चाक्षहृदयोः ।
ग्लानिर्मैथुनहानिश्च गुदभ्रंशो गुदग्रहः ।
अश्रंसां रूपसादृश्यं पृथक्त्वं तेषु वक्ष्यते ।

(वातपित्ताशीं लक्षणम् ।)

क्लृप्तां पुरीषं भवति रूक्षं किञ्चित्फेनिलम् ।
नित्यं गाधपुरीषश्च भिन्नवर्चाः पुनः पुनः ।
जरुपृष्ठकटिग्राहो नित्यानर्थसुदुर्लभः ।
जायते पर्वभेदश्च कर्णशूलस्तृषा भ्रमः ।
अशीं यक्लञ्चि पवने जाठरं वाप्यवर्धतः (?) ।
कीलाश्चास्योपजायन्ते आत्मा(ध्मा)नं च पुनः पुनः ।
गृहणी दूषिता चास्य वैवर्ण्यं चोपजायते ।
हृत्पार्श्वकोष्ठशूलश्च दुर्नामै(?) वातसंभवैः ।
सज्वरं पित(ट)कं तृणा तीक्ष्णवेगं सशोणितम् ।
उष्णद्रवं सदाहं च पित्तार्शस्सूपलक्ष्यते ।
पाण्डुवर्णं च भवति पीताभासं च लक्ष्यते ।

(श्लेष्माशीं लक्षणम् ।)

दह्यते च गुदोऽत्यर्थं गुदपाकश्च जायते ।
श्लेष्मलेष्वपि चार्शस्सु पिच्छिलं शुक्लसप्लवम् ।
पुरीषं सकफं याति स्तोकां स्तोकां सवेदनम् ।
उपविष्टश्चिरं चास्ते निस्वनं चोपवेश्यते ।
शार्यते मेढ्रवृषणं वस्तिश्च गुद एव च ।
अरुचिश्चाविपाकश्च न च पक्वं विरिच्यते ।
श्वयथुश्च विशत्यैनं विशेषेणाक्षिकूटयोः ।
एतत् श्लेष्मसमुत्थानमश्रंसां रूपमुच्यते ।

(सन्निपाताशीं लक्षणम् ।)

सन्निपातसमुत्थानं जानीयात्सर्वलक्षणैः ।
सङ्घातरक्तं विस्रं वा भिन्नं वा पित्तमिश्रितम् ।
चिरेण च प्रवाहोऽस्य प्रसक्तं वा कदाचन ।
अभिष्यन्दानि मुञ्चन्ति रक्ताशींस्थय शोणितम् ।
बहन्ति धारया रक्तं यथा विद्धा सिरा स्थिता ।
रजस्वलेव युवतिः रक्तं मुञ्चत्यभीक्ष्णशः ।

(अर्शश्चिकित्सा ।)

अतिमुक्तं सूरादन्ति(न्तीं) ककुभं समयूरकम् ।
गवां च महिषीणां च मूत्राण्यथ समाचरेत् ।
भस्मीकृत्य तु तं क्षारं युक्त्या मध्ये(द्ये)न पाययेत् ।
श्लेष्माशींसि प्रशमयेत् श्वयथुं पाण्डुतामपि ।
अर्शां वातिकानां तु यदुक्तं वै चिकित्सितम् ।
तथैव श्लेष्मिकानां तु स्नेहवर्जं समाचरेत् ।
रक्तजेष्वपि चार्शस्सु क्षीरमाजं प्रशस्यते ।
ऋतुं वाप्ययनं वापि पिबेन्मासमथापि वा ।

(बलादि दृढम् ।)

बला बिल्वशलाटूनि त्रिफला हस्तिपिप्पली ।
करञ्ज-मधु-पालाशैः मधुकोत्पलतिन्दुकैः ।
कल्कैरक्षसमैरेतद्वृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
अजाक्षीरे दशगुणे तत्किञ्च मात्रया पिबेत् ।
एतद्रक्तसमुत्थानि पित्तजानि(नी) ह यानि च ।
अर्शांसि नाशयत्याशु भिन्नाभ्राणीव मारुतः ।

(लोभ्रादियोगविशेषाः ।)

लोभ्रं दारु हरिद्रा च मज्जा वैभीतको तथा ।
तण्डुलोदकपीतानि मधुनाऽर्शोविनाशनम् ।

लाक्षा हरिद्रा मञ्जिष्ठा मधुकं नीलमुत्पलम् ।
 अजाक्षीरेण पीतानि रक्तजानां विनाशनम् ।
 शिरीषपुष्पं पुष्पं च कुटजं ककुभस्य च ।
 दार्वी हरिद्रा लोभ्रं च वातकी कट्फलं वृषः ।
 एतेषां पाययेत्कल्कान्युक्तितस्तण्डुलाम्बुना ।
 मधुयुक्तां(क्तः) प्रशमयेदर्शी वै रक्त पित्तजाः(जम्) ।
 मधुकं बदरं द्राक्षा मूलं च कुशकाशयोः ।
 तण्डुलोदकपीतानि मधुनाऽर्शीविनाशनम् ।

(शार्ङ्गरौघतम् ॥)

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ बदरीप्लक्षवेतसम् ।
 पृथक् प्रवाळान्यूर्द्राणि द्विपलीकानि संहरेत् ।
 अवाक्पुष्पाः फलान्यष्टौ अष्टौ दार्व्यास्तथैव च ।
 सालपर्णीष्टम्भिपर्णीः पले द्वे द्वे समावपेत् ।
 द्वे राळशाकस्य पले सर्वमेतत्समावपेत् ।
 द्विद्रेणे सलिले साध्यमष्टभागावशेषितम् ।
 घृतस्य चाटके साध्यः सकषायं सुखाम्बुना ।
 शार्ङ्गर्यान्तिकया जातः सुरसः स्नेहसम्भितः ।
 देवदार्व्यभया सुस्ता चित्रकी बिल्वपौशिका ।
 कट्फलं शृङ्गिवेरं च पिप्पली चन्दनं तथा ।
 सोवीरमञ्जनं मूला पिप्पल्या सि(ति)क्तेरोहिणी ।
 गुडं प्रियङ्गुपुष्पं च शाल्मली बीजसङ्ख्या ।
 वत्सकस्य च बीजानि तथैवातिविषा वचा ।
 एतान्नसमान् भागान् पृथक् दत्वा विपाचयेत् ।
 एतत्सिद्धं घृतं युक्त्या रक्तार्शी वै विनाशयेत् ।
 पित्तगुल्ममति(ती)सारं शूलं वरमरोचकम् ।
 स्त्रीणामसृग्धरं घोरं रक्तपित्तं प्रदाहिकाम् ।
 पाण्डुरोगं वृषं कासं क्रिमींश्चैवापकर्षति ।

नाशनं श्लेष्मजातानां कायाग्निदीपनं परम् ।
 गर्भाधानं च वन्ध्यानां शोषिणां चानृतोपमम् ।
 शार्ङ्गरोष्ट्रतमित्येतत् या(ख्या)तमर्शोविनाशनम् ।
 बलवर्णकरं चैव रक्तगुल्महरं तथा ।
 पित्तजेष्वपि चार्शंसु हितं तद्रक्तजेष्वपि ।
 सन्निपातसमुत्थेषु सर्वेष्वेव सुपूजितम् ।
 अर्शसां सहजानां तु यथा प्रकृतिमाचरेत् ।
 चिकित्सितं स्त्रियं बुद्ध्वा संप्रधार्य यथाबलम् ।

(तालीस पत्रवटकाः ॥)

त्रिफ(प)लं शृङ्गिवेरस्य चतुर्थं मरिचस्य च ।
 पिप्पलीकुडुवार्धं च चव्यस्य पलमेव च ।
 ताळिसपत्रस्य पलं पलार्धं केसरस्य च ।
 द्वे वती(पले) पिप्पलीमूली चित्रकस्य पलं तथा ।
 तथा तमालयोः कर्षौ सूक्ष्मैलाकर्षमेव च ।
 त्रिंशद्गुडपले शुद्धे चूर्णान्येतानि साधयेत् ।
 ततोऽक्षमात्रा वटकाः प्राणदा इति विस्तृताः ।
 ताळीसपत्रवटकास्ता एव(ताः) परिकीर्तिताः ।
 पूर्वं भक्तस्य पश्चाद्वा भक्षयेत्तु यथाबलम् ।
 मद्यैर्मांसरसैर्यूषैः क्षीरैश्चाप्युपभोजयेत् ।
 एतेन हन्ति कफजान्यर्शांसि सहजानि च ।
 वातपित्तसमुत्थानि रक्तजानीतराणि च ।
 मदात्यये मूत्रकृच्छ्रे प्रमेहे हृदयग्रहे ।
 विषमज्वरे पार्श्वशूले क्षते क्षीरे(वे) विरेचने ।
 मन्दाग्निं विषमाग्नीनां तथैव क्रिमिकोष्ठिनाम् ।
 शूलगुल्मपरीतानां कृद्यतीसारिणामपि ।
 हृद्दोगिनां कामिलानां शोषिणामूर्ध्ववारिणाम् ।
 कासश्वासपरीतानां सेव्याश्च वटकाः शुभाः ।

भूयिष्ठं सहजानीमे क्षेपयन्ति शरीरिणाम् ।
तस्माच्छोधोपचारेण कुर्यात्तस्य चिकित्सितम् ।

अर्शसः शस्त्रचिकित्सादिः ॥

रोगानि(नी)कस्य सर्वस्य परमर्शस्तुकीर्तितम् ।
तस्मादर्शो विस्तरेण चिकित्सेत्तु चिकित्सकः ।
शस्त्रेण छेदनं तेषां क्षारेण दहनं तथा ।
शल्यकर्ता प्रयुञ्जीत दृष्टकर्मा चिकित्सितम् ।

(अर्शसि आलेपनादि चिकित्सा ।)

आयुर्वेदविदा यत्तु प्रयोक्तव्यं चिकित्सितम् ।
आलेपनाभ्यङ्गविधिं स्वेदकर्म च तच्छृणु ।
अभ्यज्य नाभिं कुक्षिं च वस्तिमुष्की गुदं तथा ।
अङ्गैः क्षीरैश्च मूत्रैश्च सुखोष्णैः परिषेचयेत् ।
तरुणैर्मूलकैः स्वेदैः तथा गृज्जनकैरपि ।
सुखोष्णैः स्वेदयेद्युक्त्या पिण्याकैर्गोमयेन वा ।
रा-मे(?) कन्दमूलं च मधूकं देवदारु च ।
यवचूर्णनियुक्तानि क्षीरेणाऽऽलोढ्य पाययेत् ।
त(ते)नोपवाहं कुर्वीत स्वेदयेच्च पुनः पुनः ।
(दुर्मेदां)सि समायान्ति वेदना च निवर्तते ।
वृषोर्षनक्तमालानां काश्मर्यो दण्डयेस्तथा(?) ।
यत्र क्वाथैन्वादयेत्तु तत्र चैवोपवेशयेत् (?) ।
.....ङ्गिबेरं च कुष्ठं कासि समेव च(?) ।
सैन्धवं चित्रकं दन्तीं करवीरं शुकानि च ।
पूतिकं वरणत्वक् च विदारो लाङ्गलाह्वया ।
अत्र.....क.....ळं च पिषयेत् (?) ।
गर्भेणानेन विपचेत् तैलं मूत्रचतुर्गुणे ।
सुहृत्क्षीरयोषात्र कुडुबः कुडुबो भवेत् ।

.....र्शसां शमनं पक्क(र)म् ।
 क्षीरकन्दकालात्येतन्न च दूषयते गुदम् (?) ।
 कुळीरशृङ्गं हस्त्यस्थि बला लाङ्गलिकी तथा ।
वित्त्वं भल्लातकानि च (?) ।
 अर्शसां लेपनं तेन सप्तरात्रं पुनः पुनः ।
 शिरीषबीजं द्वौ क्षारौ लाङ्गलीं सैन्धवं तथा ।
भावयेत् (?) ।
 अर्शांसि लेपयेत् तेन सप्तरात्रं पुनः पुनः ।
 एतेन लिप्तान्यर्शांसि विनश्यन्ति न संशयः ।
 शिशुः.....(?) ।
 (स)र्वमेकत्र संहृत्य स्नुहिक्षीरेण पेपयेत् ।
 करवीरोऽनवद्यश्च मालतिः स्वर्णयूथिका ।
 प्रक्षाळनं कषाया..... ।
 सक्षीद्रं नवनीतं तु प्रलेपो ब्रणरोपणः ।
 दह्यते सप्तरात्रेण पुंस्त्वं च न विनश्यते(ति) ।
 सौर्मिकाभिदं दं..... ।
 ...र्शात्रिकटुकां स्नुहिक्षीरेण पेपयेत् ।
 एतदालेपनं श्रेष्ठं दुर्नामानं विनश्यति (?) ।
 स्वर्णक्षीरीतु.....कित्सकम् ।
 कुक्कुटस्य पुरीषं च स्नुहि क्षीरेण पेपयेत् ।
 एतदालेपनं श्रेष्ठमर्शसां क्षारसम्मितम् ।
 द(ह्यते सप्तरात्रेण) पुंस्त्वं च न विनश्यति ।
 यवास्त्रिद्वार्थकाश्चैव भल्लातकमथो वचा ।
 धूपनं चन्दनं कुष्ठशिंश(शु)सा(पा)पार एव च ।
 गवां.....पत्रे वारिष्टशिग्रजे ।
 घृतमिश्रं प्रशंसन्ति श्रेष्ठं धूपनमर्शसाम् ।
 रक्तपित्तसमुत्पेषु प्रशस्ता क्षीरवस्तयः ।
 तीक्ष्णं कफैर्न मत्तेषु वातिकेष्वपि वासकम् ।

सन्निपातान्यसाध्यानि चिरोत्थानि(नौ) ह यानि तु ।
रक्तजा सहयौत्थानि सिद्धेत्वाधिकेऽपि ते(?) ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(श्वयथुनिमित्तं तल्लक्षणं च ।)

यः क्षीणमांसो मन्दाग्निर्याधियुक्तः सुदुर्बलः ।
गुरुणि सेवतेऽत्यर्थमस्त्वपित्तकृतानि च ।
सद्यो वान्तो विरिक्तो वा गुरुण्यन्नानि सेवते ।
उपोषितश्च योऽत्यर्थं शाकमूलफलाशनः ।
मत्स्यान् दधि पयो भुङ्क्ते दिवा स्वप्नरतिश्च यः ।
अपथ्याजीर्णभोजी च नरो व्यायामसेवितः ।
यश्च तिक्तकषायाणि क्षारास्त्वक्कुट्टकानि च ।
लघूनि सेवतेऽत्यर्थं रुक्षाणि तु विशेषतः ।
तस्य वातः प्रकुपितः शिरा बाह्याः प्रपद्यते ।
स पित्तं कोपयत्याशु रक्तं श्लेष्माणमेव च ।
सिरासा(स्ता)दोषसंपूर्णं(रः) स(सं)विसर्पन्ति दारुणाः ।
समुपेत्यैकदेशे वा सर्वगात्रेषु वा पुनः ।
एवं तत् श्वयथुर्नाम व्याधिर्भवति दारुणः ।
दोषैः पक्ताशयस्थैस्तैः सोऽधस्तात् श्वयथुर्भवेत् ।
पादत्रिद्व(क)त्त(स्थः)श्वयथुर्नराणां नाशयत्यसून् ।

योषितां मुखसंभूत उभयोरपि गुह्यजः ।
भूयिष्ठमिह शोधस्तु दोषसंस्पर्शसंभवः ।
यस्तेषां त्वधिरोही स्यात् स(त)स्स(स्य) रूपं हि दर्शयेत् ।

(वातिकादि-श्वयथुलक्षणम् ।)

श्वयथुर्वातिको रुक्षः कृष्णवर्णः सवेदनः ।
करोति पीडितो निम्नं यन्निमित्तञ्च नश्यति ।
पैत्तिकञ्च यथा नीलो लोहितः पीत एव वा ।
रुजादाहपरीतञ्च क्षिप्रपाको ज्वरान्वितः ।
शुक्लावभासो वहसः खेदः पित्तस्थिरस्तदा(?) ।
आलम्बश्चाप्यनाशश्च नृशंसो यः कफात्मकः ।
वातपित्तकफानां तु रूपं स्यात्सन्निपातके ।
असाध्यश्चोपसर्गश्च श्वयथुः प्रसृतश्च यः ।
नीलपीतारुणं ज्योतिर्दृश्यते श्वयथुर्यदि ।
किञ्चित्क्षरत्यसलिलं तमसाध्यं विनिर्दिशेत् ।
शस्त्रदण्डप्रहाराभ्यां प्रपातादस्थिभङ्गतः ।
श्वयथुः पञ्चमो दृष्टो भूयिष्ठं स हि रक्तजः ।
अभिघाताच्च जातानां मांसमस्थि च पीडितम् ।
नि(सि)रा(ः)संदूषयत्याशु ततो रक्तं प्रदुष्यति ।
स दाहारागवहुलो वर्धतेऽतिप्रवेदनः ।
क्षतवैसर्पिकीं तस्य क्रियां कुर्याच्चिकित्सकः ।
एतल्लक्षणमुद्दिष्टं श्वयथूनां यथाविधि ।

(श्वयथु-चिकित्सा ।)

चिकित्सितं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।
कल्याणकं पित्तैर्षर्महातिक्तमथापि वा ।
महद्यत्पञ्चगव्यं वा ततस्संशोधयेन्नरः ।
हरीतकीं समधुकां सक्षौद्रं वापि लेहयेत् ।

मात्तिकेण च कृष्णां च लिङ्गात्क्षीरेण वा पिबेत् ।
 हरीतकीं शृङ्गिवेरं देवदारु च तत्समम् ।
 एतत्सुखास्वना पीतं श्वयथूनां निवारणम् ।
 अयोरजस्त्रिकटुकं त्रिवृता तित्तरौहिणी ।
 त्रिफलारसपीतं तत् श्वयथूनां निवारणम् ।
 महौषधं देवदारु सुधा व(ऋ)र्ष(ष) भरे(की)वच(ऱ) ।
 एतैः क्षीरसमैः सिद्धं श्रेष्ठं श्वयथुनाशनम् ।
 गोमूत्रस्य प्रयोगो वा श्रेष्ठः श्वयथुनाशनम् ।
 सक्षीरं वा पिबेन्मूत्रं माहिषं मूत्रमेव वा ।
 औष्ट्रं मूत्रं पिबेच्चैव तदुष्ट्रक्षीरमेव वा ।
 यथाबलं यथादोषं श्रेष्ठं श्वयथुनाशनम् ।
 मूलकानि च सिद्धानि सानिले भक्षयेन्नरः ।
 रसेन मूलकानां तु कुर्वीत परिषेचनम् ।
 नक्तमालार्कमूलानां वृषस्यारग्वधस्य च ।
 कषायं परिषिक्तं तु श्वयथूनां निवारणम् ।
 सुवर्चला व्याघ्रनखं कुष्ठं कटुकरोहिणी ।
 काकमाची ऋषभको रास्ना मूर्धा पुनर्नवा ।
 वार्ताकी नितुलं मूलं त्रिफला चित्रको वचा ।
 कुठेरको हरिद्रे हे श्यामा मूषकपर्णिका ।
 विळङ्गं शिशु वल्कं च नक्तमूलं महौषधम् ।
 गोमूत्रपिष्टं श्वयथौ मुख्यमुद्वर्तनं भवेत् ।
 दन्ती विळङ्गं त्रिफला चूर्पणं कटुरौहिणी ।
 चित्रकं देवकाष्ठं च त्रिवृता हस्तिपिप्पली ।
 चूर्णान्येतानि तुल्यानि द्विगुणं स्यादयोरजः ।
 क्षीरेण(ऱ) लोक्य(द्य) पीतानि श्रेष्ठं श्वयथुनाशनम् ।
 त्रिफलायास्तु कुडवं पिप्पली कुडवं तथा ।
 विळङ्गं मिरिचानां तु हे(हे) चैव पले स्मृते ।
 पलं पलं च कुर्वीत दन्तीचित्रकयोरपि ।

(अयोरजीय रसायनम् ।)

एलं च पिप्पलीमूलौ तुष्टभ्य (?) च पलं तथा ।
 शृङ्गिबेरपले द्वे च गव्यात्पञ्चपलानि च ।
 शेषाण्यर्धपलीनानि यानि तानि निबोध मे ।
 रास्ना बला गोक्षुरकं मधुकं देवदारु च ।
 वचा सातिविषा पाठा मुस्ता कटुकरोहिणी ।
 कटफलं शारिवे द्वे च श्यामा भल्लातकानि च ।
 पुनर्नवं सतेजोह्वं त्वक् च पत्रं शतावरी ।
 निदिग्धिका व्याघ्रनखं मञ्जिष्ठा कुशकं श्व(व)ला ।
 त्रिफला त्रिवृता भार्ङ्गी कुटजस्य फलत्वचः ।
 एतदाहृत्य संभारं द्विस्तावस्ता(व्या)दयो रजः ।
 तथैकध्या कृतं युक्त्या लेहयेन्मधुसर्पिषा ।
 क्षीरं चानुपिवेद्युक्त्या निरन्नसेविता ।
 अयोरजीयमित्येतत् ख्यातं सिद्धरसायनम् ।
 संवत्सरप्रयोगेण शतवर्षाणि जीवति ।
 वर्षद्वयेन मनुजो द्वे जीवेत् शरदां शतम् ।
 निहन्त्या(त्) श्वयथुं घोरं वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ।
 पाण्डुरोगमथार्शांसि मन्दमग्निं क्रिमीनपि ।
 भगन्धरं कामिलां च कुष्ठाणि जठराणि च ।
 सङ्गीहानमपस्मारं शूलानि परिकर्तिकाम् ।
 अतिसारं प्रमेहांश्च क्षतं शा(का)सं क्षयं तथा ।
 यस्मिन् यस्मिन् विकाले(रे)तु योगोऽयं संप्रयुज्यते ।
 तं तं निहन्ति वै रोगं देवारीन् केशवो यथा ।

(उक्त रसायनेऽनुपान विशेषाः ।)

अनुप्रयोगा लाजानां सक्त (क्तु)तो मधुना सह ।
 क्षीरानुपानलेह्योऽयं दिवसान् सप्त पञ्च वा ।
 अर्शःस्वामातिसारेषु विधिस्थात् परिकर्तने ।

ततः क्षीणेषु कासेषु ज्वरेषु विषमेषु च ।
 वर्षाद्वितोऽपि श्वयथुः तस्मान्मासेन शाम्यति ।
 रसायनप्रयोगाच्च पूर्वोद्दिष्टाद् यथाविधि ।
 शालीन् सषष्टिकाँश्चैव रसान्नविकृतीस्तथा ।
 क्षारास्त्रलवणांश्चापि सदा धूमं विवर्जयेत् ।
 आगन्तुश्वयथुर्वापि यो वा स्याद्दोषसंभवः ।
 लङ्घनैश्च विलेपैश्च क्षीरसेकैः प्रशाम्यति ।
 अविपाको ज्वरश्छर्दी दीर्घत्वं परिकर्तिका
 श्वासातिसारो हिक्का च शूलस्योपद्रवाः स्मृताः ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते षोड(ऊनविं)शोऽध्यायः ।

अथात उदावर्तचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति ।

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(उदावर्त निमित्तम् ।)

प्रकृत्या वारि(ति)नो(को) यस्तु रुक्षान्यन्नानि सेवते ।
 कषायं कटुकान् नित्यं रसान् तिक्तांश्च सेवते ।
 कर्कान्धूनि र(क)पित्तानि करीरलिङ्गुचानि च ।
 पारावतानि भव्यानि यच्चान्यत् फलमीदृशम् ।
 शुक्तकानि च वल्लूरं पिष्ट्याकं कोद्रव(वौ)दनम् ।
 अभिष्यन्दास्तु कटुकं वेत्र शाकं च सेवते ।
 वातमूत्रपुरीषाणां विचा(धा)रा(त्)स्मै(मे) म(ह)नस्य च ।
 एतैरन्यैश्च गुरुभिः हेतुभिः कुपितोऽनिलः

निगृह्णाति गुदद्वारं शरीरं वाप्यसर्वशः ।
 न शोषयति तत्रस्थं शरीरं शोषयन् भृशम् ।
 अधोवहानि स्त्रीतांसि पित्तश्लेष्मवहान्यपि ।
 मूत्रान्नमलवाहीनि बध्नाति पवनो भृशम् ।
 वातसन्दूषितास्ते तु धावतो ह्यूर्ध्वमास्थिताः ।
 आमपक्वाशयस्थानं उन्मादन्ति सुदारुणम् ।
 ऊर्ध्वं ह्यपानं संप्राप्य उदानेन समागतः ।
 उदावर्त इति प्रोक्तः शस्त्रे सर्पविषोपमः ।

(उदावर्त निमित्तोपद्रवाः ।)

अस्य शूलानि तीव्राणि दाहो मूर्च्छा विवर्णता ।
 स्तूयते वस्तिमूलं च मूत्रक(क्ल)र्ची(च्छ्रो)ग्रहस्तथा ।
 तनावथ च कुक्षौ च हृदि पार्श्वोदरे तथा ।
 वेदनाभिपरीतश्च निस्संज्ञो वेदतेऽसकृत् ।
 उपद्रवा ह्युदावर्ते शृणु तेषां चिकित्सितम् ।

(उदावर्त चिकित्सा ।)

सुस्निग्धमेनमभ्यज्य तैलेन लवणेन च ।
 सङ्करे(?) प्रस्तरस्वेदो द्रोण्यामास्वेदयत्ततः ।
 ततोऽस्य गुदमभ्यज्य निरुहं संप्रदापयेत् ।
 एकं द्वौ वा भिषक्कृत्वा यावद्वाथ तु मन्यते ।
 सुनिरुद्धं च तं ज्ञात्वा सुखाख्यं परिषेवितम् ।
 उष्णोदकानुपानं च भोजयेन्मृदुमोदनम् ।
 स्नुहायाः स(प)त्रकाशेन त्रिवृच्छाकेन वा पुनः ।
 ताभ्यां यूषेण भुञ्जीत यच्चान्यद्भेदनं परम् ।
 नित्यं भिन्नपुरीषैस्तं भोजनीयैरुपाचरेत् ।
 एवं तस्य पुरीषं हि वायुर्भूतो न शो.....(?) ।

(इति भेले चिकित्सिते विंशोऽध्यायः ।)

(सांन्निपातिकहृद्रोग निदानम् ।)

.....गानि दृश्यन्ते सर्दरोगिणः(१) ।
 सन्निपात समुत्थोऽसौ नव(च) सिध्यति कर्मणा ।
 निर्भिद्यते वेदनातीं दह्यते मर्म दूयते ।
 भक्तद्वेषो ज्वरो मूर्च्छा कासश्च दरितस्य ते(१) ।
 भिन्नवर्णोऽथ दोनश्च हृदि कण्डूश्च जायते ।
 हृद्रोगाः क्रिमिजाः पञ्च पञ्चमस्य तु दुर्जयः ।
 साध्यास्तयस्तु हृद्रोगा वातपित्त कफात्मकाः ।
 द्वौ चासाध्वौ स्मृ(तौ) तत्र साध्यानां शृणु भेषजम् ।

(हृद्रोग चिकित्सा ।)

हृद्रोगिणं स्नेहयित्वा शामयेन्नासयेत्तथा ।
 लङ्घयेदचिरोत्थं तं हृद्रोगं वातिकादिना ।
 हरीतकी म(व)चा रास्ना पिप्पली विश्वभेषजम् ।
 शटी पुष्करमूलं च चूर्णं हृद्रोगनाशनम् ।
 पाठा वचा यवक्षारा अभया चान्द्रवेतसम् ।
 दुरालभा चित्रकं च तूषणं लवणत्रयम् ।
 शटी पुष्करमूलं च तिन्त्रिणीकं सदाडिमम् ।
 मातुलुङ्गश्च बीजानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
 सुखोदकेन मद्यैर्वा चूर्णान्येताति पाययेत् ।
 अर्कशूलं सहृद्रोगं गुल्मं चापि व्यपोहति ।
 सौर्वचलं शृङ्गिबेरं दाडिमं सान्द्रवेतसम् ।
 खासहृद्रोगशमनमिदं स्याद्विड्गुपञ्चकम् ।

(१) भक्तातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलीनितम् ।

साध्यं विदारोगान्वायमापोथ्य सलिलाढके ॥

पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पलीं नागरं वचाम् ।

विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गुं यावत्तकं विडं शटीम् ॥

चित्रकं मधुकं रास्नां पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक् ।

प्रस्थं च पयसो दत्त्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।

एतत् भक्तातकं घृतं कफगुल्महरं परम् ॥

इति चर-चिकि-अध्याये (५) ।

(भस्मातक घृतम् ।)

.....“पञ्चसोवर्चलस्य च” ।

चतुर्गुण जले मुख्यं घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।

एतद्बल्लभकं नाम प्राणिनां सर्पिरुत्तमम् ।

अमृतप्रतिमं सृष्टं श्वासहृद्रोगनाशनम् ।

पिबेत् कल्याणकं सर्पिर्धान्वन्तरमथापि वा ।

मातुलुङ्गस्य च रसं पिबेत् का मच्चा(रा) गदानपि ।

शतपाकं बलातैलं शैरोषं सुकुमारकम् ।

तैलान्येतानि सेवेत सदा हृद्गदप्रीडितः ।

पिबेद्द्रसायनं सर्पिः क्षीराणि च गुडानपि ।

पित्तहृद्रोगशमना ये चेक्ता घृतमोदकाः ।

जीवकर्षभकौ द्राक्षा शर्करा श्रेयसी बला

हे मेदे हे च काकोत्थौ खर्जूरसिलमुत्पलम् ।

घृतप्रस्थं पचेदेभिस्तुल्यांशैर्माहिषं भिषक् ।

चतुर्गुणेन पयसा पातव्यं युक्तितश्च तत् ।

वातपित्तसमुत्थाने हृद्रोगे नाशनं परम् ।

वसा लाभेन मज्जा च तुल्यं तैलघृतं तथा ।

अमूनि लाभतो दद्यात् अथ चापि चतुर्गुणम् ।

वचा त्रिकटुकं रास्ना जीवन्ती जीवको बला ।

निदिग्धिका चांशुमती नीली भाङ्गी पुनर्नवा ।

सिद्धमेभिर्महास्नेहं बलमालोक्य पाययेत् ।

हृद्रोगं वातिकं स्नेहः सद्य एव चिकित्सति ।

विचारयेत् स्वयं बुद्ध्या वैद्यो हृद्रोग भेषजम् ।

मधुरं पित्तहृद्रोगे स्निग्धमुष्णं च वातिके ।

त्रयस्तु परिशेषा ये तीक्ष्णोष्णौस्तानुपाचरेत् ।

क्षारैः क्षारगदैश्चैव वमनैस्सविरचनेः ।

चिकित्सितं विस्तरेण यदुक्तं क्रिमिकुष्ठिनाम् ।

तदेवं क्रिमिहृद्रोगे कर्तव्यमनसूयया ।

औदकाऽऽनूपमांसानि दधि दुग्धं गुडोरसम्(?) ।
 अभिष्यन्दकरं सर्वं वातहृद्रोगनाशनम् ॥
 वि (ए)तान्येव तु शेषेषु हृद्रोगेषु विवर्जयेत् ।
 लघूनि चान्नपानानि शस्यन्ते तेषु सर्वदा ॥

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते अष्टाद(एकविं)शोऽध्यायः ॥

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति ।

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(कास निमित्तम् ।)

पञ्च कासास्त्रमुद्दिष्टा वातपित्तकफात्मकाः ।
 क्षतजो क्षयजश्चेति तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
 उदावर्तादभीघातादग्रायामात् अमकर्षणात् ।
 संभोजनाद्दिवास्वप्नाद् घृतपानात् प्रलम्बनात् ॥
 कर्षितानां च रोगेभ्यो दोषाः सात्प्रतमात् क्षयात्(?) ।
 तीक्ष्णोष्णगुरुसेवाभिर्नृणां कासा भवन्ति ते ॥
 तेषां रूपाणि वक्ष्यामि चिकित्सां च पृथग्विधाम् ।

(वातकास लक्षणम् ।)

मारुताक्कासते शुष्कं शुकपूर्णकलो(?) यथा ॥
 निष्ठौवति च शुष्कं च तच्च युक्तं स कासते ।
 प्रताम्येत्कासमानस्य हृदयं चावकुप्यते ॥
 पार्श्वे च रुजतेऽत्यर्थं श्वासिन च विकूजते ।
 शङ्खयोरजायते शूलं ताल्वोश्शोषस्तथैव च ॥

श्यावि(वे)नेत्रे च वोच्येते स्वतो वर्णश्च विद्यते ।
विशेषाद्रिक्तकोष्ठश्च कासते वातपीडितः ॥

(पित्तकास लक्षणम् ।)

अश्लक्ष्णान्नपानानां व्यायामोष्णनिषेविणाम् ।
कटुक चारुरुक्षाणां तीणमद्यनिषेविणाम् ।
सदाहस्रज्वरश्चैव पित्तकासः प्रवर्तते ॥
हारिद्रं कटुकोष्णं च पीतं ङ्गीवति चाति सः ।
मुखस्य कटुकत्वं च तृष्णा चास्योपजायते ।
हारिद्रे चक्षुषी चास्य लक्ष्येते पित्तकासिनः ।

(कफकास लक्षणम् ।)

अभिष्यन्दि गुरुस्निग्ध शीतमेध्यान्नसेविनः ।
दिवास्वप्नप्रसक्तस्य वेगांश्चापि निरुन्धतः ।
कफप्रसेको बलहा कासस्तस्योपजायते ।
गुरुत्वं शिरसोऽत्यर्थं माधुर्यं वदनस्य च ।
कासमानं च हृदयं भक्तस्थानभिनन्दनम् ।
स्तम्भश्चैवाविपाकश्च कफकासस्य लक्षणम् ।

(क्षतकास लक्षणम् ।)

व्यायामाङ्गारहरणाग्निग्रहादश्वदन्तिनाम् ।
निहन्थते यस्य वक्षः क्षतकासस्त उच्यते ।
सरक्तं पूतिपूयाभं ग्रथितं दोषसञ्चयम् ।
निष्पङ्गीवति स कासार्तो ज्यर्यते चातिसार्यते ।
उरो निर्भिद्यमानं च मन्थते स श्वसित्यपि ।
स ताम्येत् कासमानश्च तृष्णा शोषो मुखस्य च ।
मुहुराशूयते कण्ठः स्वरभेदश्च जायते ।
सघोषं कासते चापि विकृतं भिन्नविस्वरम् ।
दुर्गन्धं च तथोद्गारं क्षतकासे विमुञ्चति ।

(क्षयकास लक्षणम् ।)

सर्वेषां सन्निपाताच्च क्षयकासः प्रवर्तते ।
 तस्य ज्वरः पार्श्वरुजा हस्तपादं च दह्यते ।
 कासमानश्च निष्ठीवेत् कफपूर्वं सशोणितम् ।
 क्षीयेते बलवर्णौ च गात्रं च परिहीयते ।
 न चास्य स्वदते भोज्यं न भुक्तं च विपच्यते ।
 अतिसारो ज्वरश्चर्दिर्मूर्च्छा चास्योपजायते ।
 क्षयकासस्समाख्यातस्सचासाध्यः प्रकीर्तितः ।
 क्षतकासस्तु याप्यः स्यात्साध्यानां साधनं शृणु ।

(कासिनो भोज्याभोज्य विवेकः ।)

बलवन्तं स्नेहदानैः शोधनैस्समुपाचरेत् ।
 शोधितं भोजयेच्चैनं पुराणान् शालिषष्टिकान् ।
 जाङ्गलानां च मांसानि निषेवेन्मृगपक्षिणाम् ।
 औदकानूपमांसानि गुरुणि च विवर्जयेत् ।

(कल्याणकादिष्टुतैः कासचिकित्सा ।)

दशकल्कोपसिद्धं हि कल्याणकमथापि वा ।
 रसायनं च सेवेत सर्पिः सर्पिगुडानि च ।
 सर्पिर्मादकयोगं वा रसायनविधिं तथा ।
 यदुक्तं शोणिते पूर्वं तत्कासेष्वपि योजयेत् ।

(कासे लेह्य विशेषाः ।)

पिप्पल्यामलकं द्राक्षा तुगाक्षीर्यथ शर्करा ।
 लाजा घृतं माक्षिकं च लेह्यः कासविनाशनः ।
 पिप्पल्यामलकं रास्त्रा लेह्यो माक्षिकसंयुतः ।
 हरितक्यास्सपिप्पल्याः चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ।
 प्रलेह्यस्स्यान्मधुघृतं सक्षोद्रं शर्करान्वितम् ।
 त्रूपषणं त्रिफलं चैव पद्मकं देवदारु च ।
 रास्त्रां बलां विलङ्गानां सूक्ष्मचूर्णेन कारयेत् ।

चूर्णं शर्करया युक्तं लेहयेन्मधुसर्पिषा ।
 एष लेहः प्रणदति पञ्च कासान् समुत्थितान् ।
 यवक्षारं विलङ्घानि जाडु(?) भाङ्गीं महौषधम् ।
 सैन्धवी पिप्पली रास्ना तुल्यान्येतानि चूर्णयेत् ।
 घृतमात्रायुतं चूर्णं पिबेत् कासविनाशनम् ।
 मर्द्दाग्नितां तमश्वासं(?) हिक्रां चैवापकर्षति ।
 समूलफलशाखां तु कुट्टयेत् कण्टकारिकाम् ।
 तां पचेत्सलिलद्रोणे चतुर्भागावशेषितम् ।
 कषायं तं परिस्त्राव्य पुनरग्नावधिश्रयेत् ।
 घृतं च युक्त्या दातव्यं कल्कानेतान् प्रदापयेत् ।
 दुरा लभां क्षिन्नरूहां तूष्पणं चित्रकं तथा ।
 रास्नां कर्कटकाख्यां च पिप्पलीमूलमेव च ।
 एतान्यर्धपलीकानि तथा फ्राणितशर्कराः ।
 पलानि विंशतिं दत्वा तं लेहं सान्द्रमुद्धरेत् ।
 शी(श)ते(तं) दद्यात् पिप्पलीनां चूर्णस्य कुडवं मितम् ।
 तुगाक्षीर्याश्च कुडवं मधुनः कुडवं तथा ।
 तं लिङ्घ्यान्मात्रया लेहं पञ्चकासविनाशनम् ।
 हृद्रोगानथ हिक्रां च श्वासं चैवापकर्षति ।
 सिद्धमन्त्रं यथा सर्पिं नातिक्रामेदुदीरितम् ।
 तथा लेहमिमं कासो नातिक्रामति देहिनाम्

(इति भेले चिकित्सिते द्वाविंशोऽध्यायः ।)

.....

(दशमूल्यादिलेपनेन शंखक चिकित्सा ।)

दशमूलीमपामार्गं शङ्खपुष्पं नदीं वचाम् ।
 चित्रकं चात्मगुप्तां च पिप्पलीमूलमेव च
 बलां पुष्पकरमूलं च तथैव गजपिप्पलीम् ।
 द्वापलीनां पृथग्दद्यात् प्रत्यग्रं चाभयाशतम् ।

यदात्मकं संहैमिष जलं पञ्चाढकं पचेत् ।
 अवतार्य यवैः सिद्धैरुद्धरेत्तु हरीतकीम् ।
 भेदनं तासु कर्तव्यं ततो वंशशलाकया ।
 एतदालेपनं कार्यं शङ्खकस्य विनाशनम् ।
 एतान्येव तु सर्वाणि कषायमुपधारयेत् ।
 तेन शीतेन कर्तव्यं बहुशः परिषेचनम् ।

(सूर्यावर्त लक्षणम् ।)

नित्यवेगप्रतीघातादजीर्णाद्यशनादपि ।
 रक्तं वायुश्च कुपितौ मस्तके प्रतितिष्ठतः ।
 स मस्तकगतो वायुः रक्तं चैकत्र मूर्च्छितम् ।
 उदयेऽर्कस्य संपातादादित्यकरदूषितम् ।
 वेदनां जनयेत्तीव्रां शङ्खयोर्मूर्ध्नि गण्डयोः ।
 निघ्नन्निव शिरोऽत्यर्थं मुहुर्गृह्णाति पाणिना ।
 निष्यन्दते हि मस्तकमादित्योष्णसमुद्यतम् ।
 वर्धते वर्धमाने तु सूर्ये शीर्षरुजाहृतः ।
 समस्तिकश्च निर्वा(र्या)ति दिवसस्य परिक्षयात् ।
 सूर्यावर्तमिति प्राहुर्मनयोऽनेन हेतुना ।

(सूर्यावर्ते कल्याणघृतादिचिकित्सा ।)

कल्याणकं पिवेत्सर्पिः सूर्यावर्तनिपीडितः ।
 विरेचनं च कार्यं स्यात् तथा शीर्षविरेचनम् ।
 नस्यकर्म तथा कुर्यात् स्नेहश्चोत्तरभक्तितः ।
 घृततैलरसाभिस्तु धार्यास्त्युः शीर्षवस्तयः ।
 मयूरान् कुक्कुटान् लावान् क्षीरेण सह सादयेत् ।
 त्वत्(क्)क्षीरमन्द(न्या)यो(नो)द्भूतं नवनीतमथोद्धरेत् ।
 त्वत्(क्)क्षीरे षड्गुणे साध्यं जीवनीयैस्सह्यौषधैः ।
 ततोऽस्य नस्यं दातव्यं सूर्यावर्तविनाशनम् ।
 बिल्वमंशुमती रास्ना सहदेवा पुनर्नवा ।
 काला गुलूची सुषवी पद्मकं मधुकं बला ।

एतान्याजिन दुग्धेन सिद्धानि परिषेचनम् ।
एतैरेवोप(ष)दै(धैः)सिद्धं सर्पिराजंव(वि)नाशयेत् ।
जाङ्गलानि च मांसानि कारयेदुपनाहनम् ।
तेनास्य शाम्यति व्याधिः सूर्यावर्तस्सुदारुणः ।

(अनन्तवातनामशिरोरोगनिमित्तलक्षणे ।)

पल्लवं दधि मत्स्यांश्च पिष्टान्नविह्वलिः पयः ।
दिवास्वप्नं च भजतः त्रयः कुप्यन्ति धातवः ।
मद्यात् पश्चाद्यथा तासु तीव्रां कुर्वन्ति वेदनाम् (?) ।
ततश्चैवोत्थितं तीक्ष्णं भ्रुवोश्चाक्ष्णोश्च तिष्ठति ।
स्पन्दयेद्गण्डपार्श्वे च हनूमात्या(स्था)य तिष्ठति ।
नेत्रयोरामयान् कुर्यात् शङ्खौ चास्य प्रतोदयेत् ।
अनन्तवात इत्येषः शीर्षव्याधिस्सुदारुणः ।
सन्निपातसमुद्भावः तस्य वक्ष्यामि भेषजम् ।

(अनन्तवात चिकित्सा ।)

ललाटस्य शिरां विध्येत् स्नेहपानं च कारयेत् ।
कायं विरेचयेत्तस्य शिरश्चास्य विरेचयेत् ।
चिकित्सितं यथा ख्यातं सूर्यावर्तं शिरोग्रहे ।
अनन्तवाते तत् कार्यं तदा संपद्यते सुखम् ।

(अर्धावभेदकशिरोरोगनिमित्तलक्षणे ।)

संभोजनाद्दिवास्वप्नात् कृदिक्ष्वथुनियन्हात् ।
अभिघातात् प्रतापाच्च वेगसन्धारणादपि ।
शिरोवहा भृशं गुं(गु) ह्य तस्योभौ कफमारुतौ ।
शीर्षार्धं शङ्खमूलं च दारयन्तौ च तिष्ठतः ।
श्वथुर्जायते गण्डे चक्षुश्चैवं विरज्यते ।
अर्धान(व)दभेदको नाम शीर्षव्याधिः सुदुस्तरः ।

(उक्त शिरोरोग चिकित्सा ।)

विरेचनं च शिरसो नस्यकर्म च कारयेत् ।
लाभ(त)श्च वसा सर्वा घृतं तैलं च युक्तितः ।

तस्यैव महतीं मात्रां पाययेत्तेन सिध्यति ।
 कार्पासबीजं माषांश्च गौधूमान् सर्षपान् यवान् ।
 पञ्चमूल्यौ तथा द्वे च क्षीरेण सह साधयेत् ।
 औष्णेयं भरता तेन नाडीस्वेदेन स्वेदयेत् ।
 उष्णैश्च तैः क्षीरसिद्धैः कुर्यात्तस्योपनाहनम् ।
 करञ्जं शिशुबीजानि त्वक् पत्रं शर्करा तथा ।
 सर्वेषां शीर्षरोगाणां एतच्छीर्षविरेचनम् ।
 शिरसोऽन्ते ललाटान्ते शङ्खपर्यन्त एव च ।
 मन्थयोश्चापि पिप्पल्या दहेत् काण्डेन वा पुनः ।
 तथैवार्धावभेदस्य तेनैव विधिना भवेत् ।
 वातिके शीर्षरोगे च दहनं श्लेष्मकेऽपि च ।
 तस्मादतिप्रवृद्धेषु शीर्षरोगेषु बुद्धिमान् ।
 आरण्यपिप्पलीभिर्वा दहेत् काण्डेन वा पुनः ।

(शिरोरोगान्तर चिकित्सा ।)

रूचान्नसेविनां नित्यं तथोदावर्तिनामपि ।
 ऊर्ध्वमुत्क्राम्य पवनः शिरः कम्पमुदीरयेत् ।
 तं पाययेन्मृदुस्नेहं बलातैलमथवापि वा ।
 नस्यकर्म स्नेहपानं नित्यं चैवानुवासनम् ।
 समश्नतस्सर्वरसान् अजीर्णाद्यशिनामपि ।
 कुर्वन्ति मूर्ध्नि श्वयथुं त्रयो दोषास्समुत्थिताः ।
 तस्य पूर्वं शिरां विध्येत् पिबेज्जीर्णघृतं तथा ।
 विशोधनं धूमपानं शिरसश्च विरेचनम् ।
 इत्येष शीर्षरोगाणां प्रादेशः परिकीर्तितः ।

(कण्ठरोग निमित्त चिकित्सा ।)

अतः कण्ठगतान्नोगान् वक्ष्यामि सचिकित्सितान्
 उच्चैः प्रलापात्संस्वादतिवात्यशनादिभिः ।

रुक्षान्नपानसेवाभिः भिनन्ति पवनः परम् ।
धूमायते गलस्तस्य तथा धुमधुमायते ।
दूयते हृदयं चास्य स्वरभेदेस(न)मारुतात् ।
नस्यकर्मणि पाके च बलातैलं प्रशस्यते ।

*तरे धार्यास्तथैव कबलग्राहः ।

(कबल ग्रहविशेषः ।)

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरीचानि हरीतकी ।
शृङ्गिबेरं यवक्षारो लोभ्रं तेजीवती तथा ।
एतानि समभागानि चूर्णानि मधुना सह ।
अरोचके श्लेष्मभवे प्रधानं मुखधावनम् ।
पिप्पल्यो मधुकं मूर्वा चन्दनं कमलोत्पलम् ।
उशीरं पद्मकं लोभ्रं एला लामज्जकं तथा ।
एतानि समभागानि क्षौद्रेण सह साधयेत् ।
द्विगुणं शर्करां दत्वा पित्तखाया मदारुचा(?) ।
अजाज्यो मरिचं कुष्ठं बिल्वं सौवर्चलं तथा ।
मधुकं शर्करा तैलं वातिके मुखधावनम् ।
जम्बुवास्त्रपल्लवं लोभ्रं त्रिफला चव्यचित्रकौ ।
पटोलं नक्तमूलं च शिरीषं खदिरासनौ ।
दारवीं हरिद्रा मुस्ता च तेजोह्वा मधुकं बला ।
एतानि समभागानि कषायमुपसाधयेत् ।
इत्येष कबलग्राहः कर्तव्यो मधुसंयुतः ।
साद्रवश्चकपि.....न्योषामधुशर्करा (?) ।
अरोचकेषु प्रशस्तो धावनान्मुखशोधने । †
अजाज्यो मरीचिं द्राक्षा तिन्त्रिणीकं सदाडिमम् ।
सौवर्चलं कारवीं च गुडमाक्षिक संयुतम् ।
द्राक्षाधीतकपि.....मुखविशोधनम्(?) ।
अरोचकानां सर्वेषां प्रशस्तः कबलोत्तमः ।

(गलशुण्डिका चिकित्सा ।)

संभवन्ति त्रयो दोषाः गले यस्यौदनाग्निः ।
गलशुण्डीं वर्धयन्ति घोरां गलविसारिणोम् ।
सिराव्येधं स्नेहपानं तीक्ष्णं शीर्षविरचनम् ।
.....च धूमं च नाशयेन्नलशुण्डिकाम् ।

(कर्णरोग चिकित्सा ।)

वातिकः कर्णशूलश्च कर्णवातश्च वातिकः ।
बाधिर्यं च समाख्यातं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ।
स्नेहपानानि नस्थं च नाडीस्वेदोपनाहनम् ।
आनूपाश्च वसा.....कर्णपूरणौ(?) ।
पिप्पल्यौ बिल्वमूलं च कुष्ठं मधुकमेव च ।
लोध्रं व्याघ्रनखं मांसी सूक्ष्मैला देवदारु च ।
गर्भेणानेन तैलस्य प्रस्थं मृद्वग्निना पचेत् ।
मूलकस्ये.....स्नेहसमौ तथा ।
तेन कर्णं पितुं दद्यान्नस्यकर्म च कारयेत् ।
तेनोपशाम्यते क्षिप्रं कर्णशूलः सुदारुणः ।
शैरीषं शतपाकं च बलातैलं च चित्रकम् ।
आशु कर्णगतं शूलं बाधिर्यं चाप कर्षति ।
.....मयूराणां नक्रशल्यकयोरपि ।
तुलां मांसस्य विपचेत् क्षीर क्षौद्रेषु सर्पिःषु ।
पादभागावशिष्टं तु शीतं पूतं विमण्डयेत् ।
तत्र यन्नवनीतं स्यात्तदेभिर्विपचेत्समैः ।
क्षव.....फणिज्जकोमे (सै)न्धवं बला (?) ।
वचा व्याघ्रनखा मांसी देवदार्वगरू तथा ।
जीवकर्षाभकौवेर शृङ्गी क्रकटकस्य च ।
आत्मगुप्तफलं द्राक्षा त्वक्पत्रमथ वालुकम् ।
तत्सर्वं स्त्रावयित्वा तु खनुगुप्तां विधापयेत् ।

.....ञ्जनं दानं वस्तिकर्म च कारयेत् ।
एतेन शीर्षरोगाश्च कर्णशूलानि यानि च ।
कर्णस्त्रावाश्च शास्यन्ति रोगा जलभवाश्च ये ।
एतद्वातोत्तरे प्रोक्तं कर्णशूले चिकित्सितम् ।

(रक्तजादि कर्णशूल चिकित्सा ।)

(अतः परं तु) वक्ष्यामि रक्तजं क्रिमिजं च यत् ।
यदा दुष्टं पित्तरक्तं कर्णमेव प्रधावति ।
श्लयथुश्च हि रागश्च कर्णशूलश्च जायते ।
विध्यास्त्रिरां ललाटस्य दद्याच्चास्य विरेचनम् ।
.....स्ने(?) शिरपानं च तथा शीर्षविरेचनम् ॥
अक्रियाभिः क्रियाभिश्च कर्णपाकान्नियच्छति ।
तस्योपनाहं कुर्वीत व्रणतैलं च रोपणम् ।
तथाकल...तिभिः(?) कर्णस्त्रावं विशोधयेत् ।

(तूषणादि तैलम् ।)

तूषणं सैन्धवं कुष्ठं मज्जिष्ठा मधुकं तथा ।
रास्त्रा हरिद्रा तेजोह्वा वराङ्गं बिल्वकं त्वचम् ।
लाक्षा...सूर्वा(?)रु केसरसन वीरहाः ।
सूक्ष्मैला तगरं पत्रं त्वरव्याघ्रनखमेव च ।
आरनालतिला माषा भूर्जग्रन्थिर्निदिग्धिका ।
एतैस्तुल्यकृतैर्भागैः तैलप्रस्थं विपाचयेत् ।
भोगिनश्च वसां दद्यान्नासं बभ्रो(:)खरश्च च ।
एतेन पूरयेत् कर्णं मुहूर्ताच्चावनामयेत् ।
कर्णस्त्रावं कर्णशूलं बाधिर्यं कर्णवेदनाम् ।
सर्वान्शैव शिरोरोगान् तैलमेतन्नियच्छति ।

(क्रिमिजकर्णरोग लक्षणम् ।)

कर्णस्त्रोतस्सु रन्ध्रेषु तालुके मस्तके तथा ।
वेदना जायते तीव्रा विदाहस्तोदविभ्रमौ ।

एतानि कर्णशूलस्य क्रिमिजस्य मनोषिणः ।
 रूपाण्यस्मत्समुक्तानि तच्चासाध्यमिहोच्यते ।
 पतङ्गः शतयूध्यश्च तथा कीट पिपीलिकाः ।
 प्रविश्य कर्णस्रोतो वै भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ।
 कर्णयोस्तु द्यतस्तस्य तथा घुरघुरायनम् ।
 कीटे चरति रुक् तोत्रा निथन्देन भवेच्च रुक् ।
 मधुयुक्तेन पयसा सुरया वाऽऽसवेन वा ।
 उष्णेन पूरयेत् कर्णं मुहूर्तञ्चावनामयेत् ।
 स्रुते कीटे तु यद्यस्य कर्णस्त्रावः प्रवर्तते ।
 यथोक्तं तस्य कुर्वीत कर्णस्त्रावचिकित्सितम् ।

(इति भेले चिकित्सिते त्रयोविंशोऽध्यायः ।)

(अजीर्णं दिवाभुक्तस्यादूषकताहेतुः ।)

अजीर्णं यद्दिवाभुक्तं न दुष्यति यथा नृणाम् ।
 दूषितं दूषिते वाऽपि तत्र हेतुं निबोध मे ।
 व्यायच्छन्ते(तो) विचरतो व्याक्षिप्तमनसस्तथा ।
 मन्दे रसप्रसेके च दिवा भुक्तं न दुष्यति ।
 कमलप्रतिमं प्राहुः हृदयं दिवसक्षयात् ।
 संवृतं विवृतं चैव भवत्यादित्यरश्मिभिः ।
 विबुधे हृदये चास्य स्रोतस्सु विवृतेषु च ।
 हृदयप्रभवाश्चास्य स्रोतोभिर्विवृतैर्दिवा ।
 न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ।
 अजीर्णं प्रातराशे तु सुप्तस्यापि दिवा तथा ।
 अनेन विधिना भूतं सायमाशी न दुष्यति ।

(अजीर्णं निमित्ता रोगाः ।)

दूषितं दृश्यते चापि रोगान् संजनयत्यपि ।
 संवृतेष्वपि देवास्य(?) वायुश्चाग्निश्च देहिनाम् ।

व्यायामिनं विनैदेह तावनपचतानिशि(?) ।
 माने तु हृदये रात्रौ उत्सेकेषु पदेषु च ।
 संवृतेष्वपि स्त्रोतस्सु उत्सेदं च न सेवते ।
 यदन्नशेषं हृदये तिष्ठत्यामाशयेऽपि च ।
 तेनास्यामप्रलम्बेन देहपक्तिमगच्छता ।
 हृदयं व्याधिते बुद्धे विमूषस्य निशात्यये(?) ।
 उपस्थिते चान्नरसे पित्तश्लेष्म समज्वरे ।
 अन्नसंपुटरुद्धे च मारुते चोर्ध्वमास्थिते ।
 हृदयग्रहमुत्सेकमुत्तासं गुरुगात्रताम् ।
 तदन्नशेषं जनयेन्मूर्च्छां परिकिनीटप्राम्(?) ।
 ज्वरं कृदिमतीसारं हिक्कां भक्तस्य वाऽरुचिम् ।
 अजीर्णाध्युषितं कुर्यात् रोगानेतान्विषोपमान् ।
 तस्मादजीर्णेऽध्युषिते भोजनं प्रतिषिध्यते ।

(इति भेले चिकित्सिते चतुर्विंशोऽध्यायः ।)

(निद्रादिनिमित्तम् ।)

निद्रां चैवातिनिद्रां च मूर्च्छां चैव निबोध मे ।
 तमसा हि समाक्रान्ते जीवे दिवससङ्ख्यात् ।
 इन्द्रियाण्यस्य कर्मभ्यः क्रमात् विरमन्त्यथ ।
 भुक्तेऽन्ने पच्यमाने च श्लेष्मणा हृद्गतेन तु ।
 विवृद्धेन निरुद्धेषु चक्षुश्रोत्रवह्नेषु च ।
 कर्मक्रिया सूर्यपादैः क्लृप्ताः प्राणिनो दिवा ।
 शरीरमासैसञ्चैव(?) तैस्तै रूतैरुपद्रुताम् ।
 एवं क्रियान्नसंज्ञानि तन्द्रा विशति तामसी(?) ।
 एवं सर्वेषु भूतेषु निद्रा नामोपजायते ।
 चिन्ताशोकश्रमहरी ब्रह्मणा विहिता पुरा ।
 श्वसतस्तस्य देहेऽस्मिन् प्राणापानौ सहेच्छको(?) ।
 जाग्रतो जीवसंयुक्त नासा न विनश्यति(?) ।

इन्द्रियाणामुपरमे मनस्सूपरतं यदा ।
 सेवतेऽगोचरं तेषां विद्धि तं स्वप्ननाशनम् ।
 पितृदेवमनुष्येषु संहाराणामुपैति च ।
 परं च लभते स्वप्ने भेदस्य हि नरात्मनः(?) ।
 अतिनिद्रा तु जन्तूनां श्लेष्मण्युच्छ्रायमागते ।
 वातोत्तराणां नियतं निद्रा नाशं व्रजत्यपि ।
 वस्तयः स्नेहपानानि ग्राम्यान्पूदका रसाः ।
 गुडदुग्धस्य पानं च निद्रासंजननं परं ।
(मद्यं मधुघृतं तथा)

मनः प्रसादा निर्याणं तिष्ठ निद्रस्य भेषजम्(?) ।
 धूमपानं विरेकस्य धूमपानं विरेचनम् (?) ।
 प्रच्छर्दनं लङ्घनं च निद्रासङ्घं निवर्तयेत् ।
 पग.....नायं व्यायामो गूढार्थपरिचिन्तनम्(?) ।
 यवान्ननित्यसेवाऽथ निद्रासङ्घं निवर्तयेत् ।
 इन्द्रियाणां प्रसन्नत्वं मनस्तात्त्वं तदाश्रितम् ।
 हृदि सन्तिष्ठते चित्तं बुद्धिसर्वेन्द्रि(याश्च) यम् ।
 सान्निपातं च रक्तं च त्रयो दोषाश्च दूषिताः ।
 निपीडयन्तीह नृणां हृदयं शोषयन्त्यपि ।
 आशुष्यमाणं हृदयं प्रमादाद्भि विमुह्यति ।
 संपीडितं च हृदयं मनश्चित्तं च मोहयेत् ।
 सौदनाश्चित्तमनसः संप्राप्नोति विसंज्ञताम् ।

(इति भेले चिकित्सिते पञ्चविंशोऽध्यायः ।)

(वातरोग चिकित्सा ।)

.....पजारदितम् ।
 हनुग्रहं वातहर्षं पार्श्वशूलं ज्वरं क्षयम् ।
 वर्त्मकुण्डलकृच्छ्राणि हृदग्रहं चात्र संक्षमम् ।

अशोतीर्वातिकान् रोगान् तैलमेतत् व्यपोहति ।
 सन्निपातसमुत्थांश्च संघृक्तांश्चौरजांस्तथा ।
 योनिव्यापत्तिवध्यात्वं प्रवृद्धं यदसृग्धरम् ।
 बलवर्णकरं चैव कासक्षयनिवर्हणम् ।

(मूलक तैलम् ।)

बलमूलात्पलशतं दशमूलात् शतं तथा ।
 शतावर्यां गुलूच्याश्च रास्त्रामधकदारुणः ।
 कुर्याद्दशपलान् भागान् कुलुत्थान् बदरान् तथा ।
 माषांश्च कुडवांशानि जलद्रोणेषु पञ्चसु ।
 काथं द्रोणावशिष्टं तु तैलाढकसमायुतम् ।
 घृतप्रस्थेन विपचेत् क्षीरद्रोणेन चाप्यथ ।
 तैर्थाप्रदद्यास्वेद्यो वै तगरोशीरवालुकम् (?) ।
 कुष्ठधान्यकमुस्तैला वचा चागुरुचन्दनम् । *
 परिपेलव कालांसं(?) मांसीं श्रीवेष्टकं रसम् ।
 कुन्दरुष्कं च तक्कोलं सरलां नालिकां नखम् ।
 सृक्का कुङ्कुम कर्पूरं जातितिन्दुकयोः फलम् ।
 पत्रं चोरकनागाह्वा शराह्वा सहरेणुका ।
 चतुरुष्कं(?) जीवनीयां प्रियङ्गुं हपुषां तथा ।
 स्थीण्येयकीमुशीराणि शैलेयं च समं धृतम् ।
 कल्कपिष्टे पचेत्तैलं एतद्वातामयापहम् ।
 पाने चाभ्यञ्जने नस्थे वस्त्रौ चापि प्रयोजयेत् ।
 सर्वदेहाश्रया वाता संसृष्टाश्चौरजाश्च ये ।
 तेषां निग्रहणे युक्तं इत्युवाच पुनर्वसुः ।
 तैलैर्नानेन सततं विधिवत्तर्पितं नरम् ।
 सर्वामया वर्जयन्ति सिंहवाटं यथा मृगाः ।

(बला तैलम् ।)

बलाया जातसाराया तुलां कुर्यात्सुकुट्टिताम् ।
 पचेत्तोये चतुर्द्वीणि चतुर्भागावशेषितम् ।

पलानि दश पिष्टानि बलायास्तत्र दापयेत् ।
 लुञ्चितानां तिलानां तु दद्यात्तैलाढकद्वयम् ।
 चतुर्गुणेन पयसा पचेत्तं मृदुनाऽग्निना ।
 वातव्याधिषु सर्वेषु रक्तापित्ताश्रयक्षये ।
 व्यापन्नासु च योनौषु शस्तं नष्टे च रेतसि ।
 तालुशोषं तृषां दाहं पार्श्वशूलमसृग्धरम् ।
 हन्ति शोषमपस्मारं विसर्पं सशिरोग्रहम् ।
 आयुर्वर्णकरं प्रोक्तं बलातैलं प्रजाकरम् ।

(रास्ना तैलम् ।)

रास्नामूलस्य कुर्वीत द्वे शते च बलाशतम् ।
 शतावरीगुडूचीभ्यां वरणं च शतं शतम् ।
 आढकान् शिथुकैरण्डशिरीषारग्वधादपि ।
 श्वदंष्ट्राभूतिकाभ्यां च पृथक् पञ्चशतं क्षिपेत् ।
 तीयद्रोणेषु दशसु साधयेत्सूक्ष्मकुट्टितम् ।
 तीयावशेषे तस्मिन्सु तैलस्यार्धमर्गणं पचेत् ।
 द्रोणान् दश च दुग्धस्य घृतस्यार्धाढकं तथा ।
 तथैकध्य विपक्तव्यं गर्भे चात्र विपाचयेत् ।
 मधुकं मालतीपुष्पं मञ्जिष्ठां मदयन्तिकाम् ।
 काश्मर्याण्यजमोदं च शृङ्गिं कपिलमुस्तकम् ।
 आत्मगुप्ताऽऽढकी मूर्वा वार्ताकानि मधूलिकाम् ।
 सहदेवा मदार्थदां(?) रोहिषं नवमालिकम् ।
 फणिज्जकं मधूकानि बीजानि पदकं बलम् ।
 फलां च पीलुपालाशं कुमार्यश्चत्यतैन्दुकम् ।
 क्लीबेरं पिप्पली-कुष्ठं द्राक्षां कटुकरोहिणीम् ।
 कायस्थां च वयस्थां च मधुपर्णीं सचित्रकाम् ।
 महापुरुषदन्तां च मोदकीं सल्लकीमपि ।
 देवदार्वगुक्थेष्ठां चन्दनं परिपेलवम् ।

नीलोत्पलमुशीराणि मृद्वीकां सास्त्वितसाम् ।
 एतैः पलसमैः पिष्टैः समं तैलं विपाचयेत् ।
 भोजनेऽभ्यञ्जने पाने वस्तौ नस्ये च शस्यते ।
 वातव्याधिषु सर्वेषु क्षतक्षीणे शिरोग्रहे ।
 स्वरक्षये रक्तपित्ते हिक्काश्वासेष्वसृग्धरे ।
 मारुते पित्तसंसृष्टे संसृष्टे शोणितेन च ।
 विषमज्वरहृद्रोगे गात्रकम्पे तथैव च ।
 अपस्मारे रक्तगुल्मे पुंसां नष्टे च रेतसि ।
 रास्नातैलमिदं श्रेष्ठं बलमांसविवर्धनम् ।

(सहचर तैलम् ।)

समूलपत्रशाखस्य शतं सहचरस्य च ।
 चतुर्षु तोयद्रोणेषु साधयेत्सूक्ष्मकुट्टितम् ।
 द्रोणावशेषे पूतं च पले(चे) तैहा(ला)ठकं शनैः ।
 मांसैश्च शिरस्तस्थोपनाहते ।
 न च कर्म च कुर्वीत पित्तं मूर्ध्नि च दापयेत् ।
 सुखं विषट्टयेत्तस्य सन्दंशेन यथा सुखम् ।
 भृङ्गारेण प्रयच्छेत्तं स्नेहमांसरसं तथा ।
 अभ्यादधानस्य तथा दन्तानुद्घाव्य संहतान् ।

(आमाशयवात चिकित्सा ।)

अमाशयगते वाते स्नेहेनोपचिते भिषक् ।
 लघनं तस्य कुर्वीत तथा संशोधनानि च ।
 आमप्रलेपसंभूतः स्नेहस्थानगतोऽनिलः ।
 स्नेहैर्मांसरसैश्चैव स्निह्यमानो विवर्धते ।
 तस्मात्तस्य विरूक्षाणि भोजनानि कटूनि च ।
 आहारं चौषधार्थं च विदध्याच्छास्त्रकोविदः ।
 आमाशयस्थे वमनं क्षारा क्षारगुडास्तथा ।
 अरिष्टाशीधवश्चैव हितं मांसं च जाङ्गलम् ।

श्यामाकाः कोरदूषाश्च मुक्ता लोहितशालयः ।
स्वेदो यवान्नं च हितमामाशयगतेऽनिले ।

(पक्वाशयगतवात चिकित्सा ।)

यदा पक्वाशयगतो रूपं विकुरुतेऽनिलः ।
सिरासु सर्वगात्रेषु मज्जस्वस्थिगतोऽनिलः ।
विरूपपूर्वमुक्तस्य तस्य कुर्याच्चिकित्सितम् ।

(वातरक्तगृध्रस्यादि चिकित्सा ।)

क्लृप्तं यदुपदिष्टं तु वातव्याधिचिकित्सितम् ।
रक्तस्थानगते वायौ पूर्वमुक्तं चिकित्सितम् ।
वातशोणितके तत्तत् कुर्याद्रक्तगतेऽनिले ।
समुत्थितायां गृध्रस्यां बलातैलं प्रशस्यते ।
श्रेष्ठं मूलकतैलं वा तैलं सहचरस्य वा ।
वस्तयः स्नेहपानानि स्नेहस्रोन्मर्दनानि च ।
गृध्रस्यां तु प्रशस्यन्ते शोणितस्य च मोक्षणम् ।

(वातरोगमूला विकाराः ।)

अशीतिर्वातरोगा ये मया पूर्वं प्रकीर्तिताः ।
तेषामेषा चिकित्सा तु वायोस्ता(स्था)नेषु सप्तसु ।
साध्या ये चाप्यसाध्यास्तु रोगा मारुतसंभवाः ।
उत्पत्यन्त्यथ तिष्ठन्ति वायोः स्थानेषु सप्तसु ।
अस्थिमज्जगते भङ्गं कम्पनं गात्रशोषणम् ।
पक्षग्रहमपस्मारमुन्मादमपि चार्दितम् ।
हनुग्रहं कुण्ठिं कुञ्जं पङ्गु, त्वं सन्धिविच्युतम् ।
.....वतरोगा भवन्त्यपि ।
साध्यस्थानवशादेव ताँश्चिकित्सेद्यथाक्रमम् ।
इतीयं विस्तरणोक्ता चिकित्सा वातरोगिणाम् ।

(वातप्राधान्य विवेकः ।)

वातो हि जीविते हेतु प्राणिनां च.....

.....चन्द्रमसं तथा ।

वर्षणं वायुना भवति तथैव च निवारणम् ।

वहते च विमानानि सर्वशः स्वर्गवासिनाम् ।

सागरे कुरुते वेष्ठां वायुर्मेघान् सृजत्यपि ।

विगतिर्वायुना मेघो विद्योतयति वायुना ।

त्रैलोक्यधारी पवनस्सर्वं वाताग्रवर्तते ।

निर्वर्तयेत्पुष्पफलं वायुर्धारयते जलम् ।

उल्कापातान् महीकम्पान् तारणं धारणानि च ;

आकाशं धारयेद्भङ्गां वायुस्त्वतिबलान्वितः ।

एकश्चान्यश्च वहवो वायोर्गुणविभावनाः ।

तस्मात्प्रयत्नतस्तस्य चिकित्सां भिषजां वरः ।

कुर्याच्छास्त्रानुसारेण तथा सिद्धिमवाप्नुयात् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते षड्विंशोऽध्यायः ।

अथातः प्लीहहलीमक(ल)चिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(प्लीह निमित्तम् ।)

अभिषन्दीनि भोज्यानि भुञ्जीतातीव यो नरः ।

लङ्घितो वा पि(वि) रित्तो वा व्यायाममुपसेवते ।

भुक्त्वा पीतोदको यस्तु सहसा संप्रधावति ॥

पृष्ठयानाद्गु ताच्चापि प्लवनास्त्रेहविभ्रमात् ।
रोगैरन्यैश्च क्लिन्नानां दुबलानां च देहिनाम् ।

(पित्तप्लीहादिलक्षणानि ।)

प्लीहा स्थानात्प्रपद्यन्ते(ते) तस्य रूपाणि मे शृणु ।
करोत्यग्नेर्मादिवं च शूलं कठिनमेव च ।
महापरिग्रहश्चैष प्लीहा वातसमुद्भवः ।
सज्वरः सपिपासश्च स्वेदनस्तौत्रवेदनः ।
पीतकः स्तब्धगात्रश्च प्लीहा पित्तात्मको भवेत् ।
नित्यानाहितकोष्ठश्च नित्योधा(दा)वर्तपीडितः ।
वेदनाभिपरीतश्च प्लीहा श्लेष्मात्मको नरः(मतः) ।
त्रयाणां यत्र रूपाणि दोषाणां लक्ष्येद्भिषक् ।
असाध्यमीरितं विद्यात् प्लीहानं सान्निपातिकम् ।

(साध्यासाध्यप्लीहविवेकः ।)

सृष्टिमात्रस्सुसाध्यस्तु परीतस्तमुपाचरेत् ।
अतिप्रमाणवृद्धस्तु न सिध्यति कथंचन ।
सर्वेषु तेषु गौ(दौ)र्बल्यमानाहो गात्रसादनम् ।
अरुचिश्चाविपाकश्च वर्चो मूत्रग्रहो ज्वरः ।

(प्लीहचिकित्सा ।)

मार्द्वीकं च पिबेद्युक्त्या गण्डीरारिष्टमेव वा ।
चन्द्रप्रभं शार्करां वा पाययेत्तु हलीमकी(ले) ।
अयोरजीयं क्षीरेण पाययेत्तु रसायनम् ।
अगस्त्याभयलेहं वा सेवेत प्रयतश्शुचिः ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते पञ्च(सप्त)विंशोऽध्यायः ॥

अथातोऽपतन्त्रकचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(अपतन्त्रकनिमित्तलक्षणे ।)

रुक्षान्नपानसेवाभिर्वेगसन्धारणेन च ।
 कर्षितस्यातिमेहस्य चेष्टितस्य तथैव च ।
 विरिक्तयुक्तनस्यस्य वस्तिना कर्षितस्य च ।
 अवस्रंसितभक्तस्य भक्तस्याप्यतिसेवनः ।
 शुद्धः पक्वाशयगतो वायुर्वृद्धः प्रशस्यते ।
 स पित्तयित्वा हृदयं धर्म(म)नि(नौ)र्दर्श(श)संस्थितः ।
 ऊर्ध्वमापूर्य स्त्रीतांसि शिरश्शङ्खौ च धावति ।
 आक्षेपतस्य(श्च) गात्राणि नास्यन्ते च धनुर्यथा ।
 निमीलिताक्षस्तब्धो वा निरुच्छासो विचेष्टते ।
 कृच्छ्रं श्वसितिस पिं(पीं) व कूजत्यपि कपोतवत् ।
 मुक्ते च हृदि वातेन पुनः स्वास्थ्यं नियच्छति ।
 भूयस्तु शेते स्वस्ताक्षो मुह्यत्यप्रयतो यथा ।
 घोरस्स वातिको रोगो धमनौहृदयाश्रितः ।
 सन्निरोधाश्च(च्च) नाडी(नां) यन्त्रितानां च वेगतः ।
 स्रोतसां व्याकुलीभावान्नित्यं स्यादपतन्त्रकः ।

(अपतन्त्रे सूक्ष्मविरेचनादिचिकित्सा, वमनादिनिषेधश्च ।)

नचैनं वामयेद्धीरो नचाप्येनं विरेचयेत् ।
 न चास्याऽऽस्थापनं दद्यान्न चैनमवतर्पयेत् ।
 पिप्पल्योऽथ विळङ्गानि शिग्रूणि मरीचानि च ।
 एतानि सूक्ष्मपिष्टानि कुर्यात्सूक्ष्मविरेचनम् ।
 श्वसतो यस्य संवृद्धिः श्लेष्मणो मारुतस्य च ।
 तस्य श्लेष्मण्युपहृते संज्ञी समुपजायते ।

(अतपतन्त्रके सौवर्चलचूर्णम् ।)

सौवर्चलं दाडिमं च तथा हिङ्गुः सन्वेतसम् ।
महौषधं च पीतानि नाशयत्यतपतन्त्रकम् ।
हिङ्गुः पुष्करमूलं च तुम्बुरुणि हरीतकी ।
यवस्त्रादूदकेनैतत् दातव्यं लवणैस्त्रिभिः ।
हृद्रोगं पार्श्वशूलं च प्रवृद्धं चातपतन्त्रकम् ।
योगोऽयं शमयत्याशु शूलं गुल्मं च वातिकम् ।

(विभीतकादि चूर्णम् ।)

विभीतकं चातिविषं भद्रमुस्तां सपिप्पलीम् ।
भार्ङ्गीं सशृङ्गिवरां च सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
तानि चूर्णानि मध्येन पीतान्युष्णोदकेन च ।
नाशयन्ति नृणां क्षिप्रं श्वासकासापतानकम् ।

(हरीतक्यादिष्टुतम् ।)

हरीतकी वचा रास्ना सैन्धवं सान्न्वेतसम् ।
ष्टुतमात्रासमायुक्तं नाशयत्यतपतानकम् ।
शुकनासा महावल्ली हे बृहत्थ्यौ महौषधम् ।
निचुळथैव भार्ङ्गी च.....काळिका ।
पुनर्नवा चेति समैरक्षमात्रैः पचेद्भिषक् ।
तोयाढके ष्टुतप्रस्थं तस्मिन् चापि पाययेत् ।
श्वासकासौ महाहिक्का हृद्रोगं चापतन्त्रकम् ।
नातिक्रामेदिदं सर्पिर्वेलांमिव महोदधः ।

(काकादनीपाचनम् ।)

काकादनी बला लम्बा हे बृहत्थ्यौ महौषधम् ।
कदम्बपुष्पि(ष्पी) काला च सन्धिवल्ली तथा वृषा ।
आदारी च विदारी(नी) च सुवहा केश य(इ)त्यपि ।
एतेषां द्विपलान्भागान् जलद्रोणे विपाचयेत् ।

द्विगुणेन कषायेण तस्मिद्धं युक्तिः पिबेत् ।
असधारोगं ह्रिक्वां च श्वासं चैवापकर्षति ।
अपतानं सहृद्रोगं श्वयथं पाण्डुतामपि ।

(हरीतकीष्टतयोगान्तरम् ।)

हरीतक्याश्च पञ्चाशत् हे च सौवर्चलात्तुले ।
विपाचयेद्वृतप्रस्थं द्विगुणं क्षीरसंयुतम् ।
अपतानं सहृद्रोगमेतत्सर्पिर्व्यपोहति ।
ह्रिक्वाश्वासौ च संवृद्धौ सद्य एव चिकित्सति ।
अपतानकनाशार्थमेतदुक्तं चिकित्सकम् ।

(इति भेले चिकित्सिते अष्टाविंशोऽध्यायः ।)

(आर्दित चिकित्सा उदितादिलेपश्च ।)

अथार्दितानां वक्ष्यामि चिकित्सां लक्षणानि च ।
शस्त्रकाष्ठप्रहाराश्च(च) ग्राम्यधर्मातिसेवनात् ।
हृदनाम्नद्यपानाच्च धनुषश्च विकर्षणात् ।
नित्यं व्यायामशीलानां पतनाल्लङ्घनादपि ।
अवतं(स्त्र')सितभक्तस्य व्याधिना क(र्शि)तस्य च ।
नरस्य कुपितो वायुरूर्ध्वमेव प्रपद्यते ।
हनुमूलं शिरश्चापि ग्रीवां चैवार्दयत्यपि ।
सजिह्वं कुरुते तस्य वदनं चक्षुरेव च ।
कम्पतेऽस्य शिरोग्रीवं नासा वक्रोभवत्यपि ।
निमोत्य चाक्षिणी तस्य निष्पन्दे विषमे तथा ।
ऊर्ध्वं विप्रेक्षतेऽत्यर्थं तिर्यगाकारकेक्षणः ।
ओष्ठौ श्वयथुवन्तौ च चिबुकं च विनाम्यते ।
क्षीवत्यथातिमत्रं च (विध) नां(नं) व्रणनाशत(न)।ः(म्) ।

(आर्दितनिमित्तलक्षणे ।)

व्रणस्य कालं संपश्यन् ततः कुर्यादुपक्रमम् ।
वेद(ध)नं पाचनं चैव स्तम्भनं शोषणं तथा ।

स्त्रावणं रोपणं चैव व्रणे कुर्यादुपक्रमम् ।
 उदिता(तः) क(प)र्णमूलं च रास्ना मूलकपर्णिका ।
 शुकनासा सुगन्धा च समङ्गा न चि(र) कुष्ठकम् ।
 कालेयकं बला दन्ती पाका(ठा) शतपदि(दी) स्थिरा ।
 पीडनीया प्रलेपोऽयं व्रणश्चयथुनाशनः ।

(उदुम्बरादिलेपः ।)

उदुम्बरः शिरीषश्च मधुकं चन्दनं तिलाः ।
 इन्द्रकान्तं समुद्रान्ता तथैव च शतावरी ।
 नीलोत्पलं पद्मकं च त्वचो द्वे चापि शारिवे ।
 एष प्रलेपो रोगं च व्रणानां तानि नाशयेत्(?) ।

(व्रणरोपणतिलकल्कः ।)

तिलकल्कस्समधुको पिचुमन्दच्च कल्कवान् ।
 पुराणसर्पिषा युक्तो व्रणेषु व्रणरोपणः ।

(त्रिफलातैलम् ।)

त्रिफला धातकी लोभ्रं समंगा मधुकं बला ।
 द्वे बृहत्यो समुद्रान्ता तथैव च शतावरी ।
 नीलोत्पलं कटफलं च मालती खर्णयूथिका ।
 एषां कल्कैस्समैस्सिद्धं तैलं स्याद्व्रणरोपणम् ।

(व्रणरोपणतैलान्तराणि ।)

विम्बाम्नामलकीनां च पल्लवं मधुकं बला ।
 एतैश्शकद्रसैस्सिद्धं तैलं व्रणनिवर्हणम् ।

(व्रणे धावनादिचिकित्साविशेषाः ।)

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षपारावरजुनाः ।
 शमीवदर्या एतेषां कषाया व्रणधावनाः ।
 यवान्नं शालि(लु)का रक्ताः, सुन्ना नीवारषष्टिकाः ।

जाङ्गलानि च मांसानि व्रणी संशीलयेत्सदा ।
 अन्नं च दधि शाकं च मांसं चाऽऽनूपवारिजम् ।
 क्षीरं गुरुणि चान्नानि व्रणी यः परिवर्जयेत् ।
 एतानुपक्रमान् कुर्यात् व्रणे कायचिकित्सकः ।

(व्रणे शस्त्रादिचिकित्सा ।)

शल्यकृच्छापि कुर्वीत व्रणे शेषानुपक्रमान् ।
 छेद्यं भेद्यं च लेख्यं च से(सी)व्यं प्रच्छन्न एव च ।
 पाचनं यच्च तैस्तुल्यं भवेदन्यच्च किञ्चन ।
 द्वादश व्रणदोषाच्च(श्च) परोक्षा चैव षड्विधा ।
 उपक्रमाः षड्विधाश्च नियताः(ः) शल्यहेतुके ।
 उद्देशतः क्रियाश्चैताः कुर्यात्कायचिकित्सकः ।
 त्रिफला मधुकं लीध्रं मञ्जिष्ठा बिल्वशुण्ठिका ।
 समङ्गा धातकौ लाक्षा निर्यासः शास्त्रलेखपि ।
 पलाशस्य च निर्यासो निर्यासः कज्जुभस्य च ।
 सूक्ष्मान्येतानि चूर्णानि व्रणानां रोपणं परम् ।
 गुग्गुलोऽसस्रकीनां च सर्जस्य तिनिशस्य च ।
 निर्यासा रोपणाः प्रोक्ताः समस्ताः पृथक्चैव च ।
 व्रणधूमक्रमा ये च प्रत्युत्पत्तौ च या क्रिया ।
 एतच्छेषं शल्यकृता कर्तव्यं दृष्टकर्मणा ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते अष्टा(उन)विं(त्रिं)शोऽध्यायः ॥

अथातः पानात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(मद्यगुणदोषविवेकः ।)

सर्पिलवणवर्ज्यासु रसा मद्ये प्रतिष्ठिताः ।
तीक्ष्णं चोष्णं तथा रुक्षमाशुकायी व्यपाय च (?) ।
देवनीयं च हृद्यं च सर्वभूतहितं लघु ।
चिन्ताशोककलमहरं रतिप्रौतिविवर्धनम् ।
हर्षस्थाने हर्षकरं भयस्थाने भयापहम् ।
रतिविहार जननं द्युतिशैर्यकरं परम् ।
शरीरावयवान् सर्वान् अनुगच्छत्यणूनपि ।
तैक्ष्णप्रात् मोहयते चित्तमौष्णप्रात् पित्तकरं च तत् ।
हृद्यं वैशद्यभावाच्च रैच्यास्मारुतकोपनम् ।
श्लेष्मघ्नं तीक्ष्णभावाच्च हर्षणादृष्यमुच्यते ।

(मद्यात्ययदोषाः ।)

मद्यावचारणात्तस्य कुपितौ पित्तमारुतौ ।
शोधयेतां रसवहाः शिराः रोम च तालु च ।
तृषापरोतः सोऽत्यर्थं पानमेवाभिनन्दति ।
पीतं पीतं शोषयती देहं तस्याग्निमारुतौ ।
गच्छत्याशु जरा देहे सिकतायामिवोदकम् ।
तस्माद्दहोरात्रमपि पिबतः पानसेविनः ।
तृष्णा नोपशमं याति पानं जीर्यति चाऽऽशु च ।
भ्रामितस्य तु मद्येन पित्तं वायुश्च देहिनः ।
विहीनं चित्तमनसि बुद्धिं पीडयतस्ततः ।
स राजति प्रवहति विस्मृत्यति धावति ।

पतत्युत्पतते हन्ति बहुशस्त्र विभाषते ।
 गच्छत्यगम्यमानश्च कार्याकार्यं न बुद्धयते ।
 ततः श्वश्रे च पतति श्रेते च सृतशायिकाम् ।
 नग्नोऽवशश्च विचरेत् विचरेद्धि विचेतनः ।
 ईदृशोऽपि भवेन्मत्तः पानेनोन्मथितेन्द्रियः ।

(परिमितमद्यगुणः, तत्सेविकर्तव्यानि च ।)

प्रमाणेन पिबेन्मद्यं नातिसेवित पण्डितः ।
 युक्त्या तु सेव्यमानं तत्पानं चामृतमुच्यते ।
 पानं तद्भोजनेऽत्यर्थं रुचिमन्नं करोति च ।
 हर्षं जनयते स्त्रीषु तस्य रोगं चिकित्सकः ।
 पानेनैव प्रशमयेन्नान्यत्तस्य चिकित्सितम् ।
 तस्मान्मद्यं निषेवेत क्षेमाणि पतनानि च(१) ।
 भोजेनघूनि चान्नानि जाङ्गलान्न(स) मृगद्विजान् ।
 स्नानं सुगन्धैः स्नानीयैः कृत्वा त्वगनुलेपनम् ।
 शब्दान् मनोज्ञान् शृण्वंश्च मनोज्ञैस्सह बन्धुभिः ।
 गृहेऽत्यन्तसुखेऽप्येतत्कुर्यात्प्रस्थोत्तरोत्तरम् ।
 कान्तास्सुमध्यवयसः तनुमध्याशुचिस्मिताः ।
 चन्द्रपादान्ननोहृष्टाश्चित्रमाल्याम्बरस्त्रजः ।
 चतुरा क्षौनु(म)वसना मुक्तामणिविभूषिताः ।
 रक्तचन्दनदिग्धाङ्गा मनोज्ञमणिमेखलाः ।
 तास्समालिङ्ग्य शयने सहिता प्रतिमास्त्रियः ।
 योषितो वै प्रधाना वै शीतस्पर्शस्वभावकाः ।
 नृणां स्वभावतश्चैव नार्यो हर्षविवर्धनाः ।
 सोमो हि शिशिरो धातुः हृदि हर्षः प्रवर्तते ।
 तस्मादालापसंलापैस्संवाहनविनोदनैः ।
 नारीं प्रहर्षजननीं सेवेताश्च मदात्यये ।
 गीततूर्यस्वनास्तात्र सुहृदश्च मदोत्कटैः ।

प्रियानुवर्ति गायन्तो हर्षं कुर्युर्मदात्यये ।
निर्दोषाणि च मद्यानि युक्तानि शिशिरैर्जलैः ।
यानि तानि शुभैर्मसैः स्तोपदंशानि पाययेत् ।

(पानात्यये पानकश्लेषः ।)

पानकानि च मुख्यानि षाडवास्तर्पणानि च ।
अविक्षीरं सचुक्षी(क्रं) च सेवेतासौ मदात्यये ।
तक्रं द्राक्षा रसस्निग्धसूतैरिषीको रसो मधु ।
आरनालं सचुक्रं च कोलदाडिमयो रसौ ।
जालासन्तर्पणाश्चैव सूक्ष्मास्य यवतर्पणः(१) ।
सौवर्चलमजाज्यश्च सैन्धवं लवणं तथा ।
शिशिरेण जलेनैतत्तर्पणं पानवत्पिबेत् ।
मातुलुङ्गोपदंशं च हन्यात्पानात्ययं नृणाम् ।
लाक्षारससूतैरिषीको दाडिमस्य रसो मधु ।
पूर्वकल्पेन पातव्यं संपन्ने पानविभ्रमे ।

(पानकं तद्गुणाश्च ।)

कर्कन्धूवदराणां च प्रस्थं कुर्यात् सुकुट्टितम् ।
सप्रस्थे गालयंस्तोये सप्तकृत्वः पुनःपुनः ।
मृण्मये तन्त्रवे भाण्डे खनुगुप्तं निधापयेत् ।
द्वे च दद्याद्गुडपले शर्करायाः पलं तथा ।
सूक्ष्मं च मरिचात्कर्षचतुर्थं केसरस्य च ।
त्वक्पत्र भरणे द्वेच सूक्ष्मैलाकर्षमेव च ।
अमृणालार्धकर्षं च सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
जातीरससमोपेतं पानकं पानविभ्रमे ।
नाशयत्याशु पानेन छिन्नाभ्राणीव मारुतः ।
एतच्छर्दिं तृष्णं दाहमतिसारं प्रवाहिकाम् ।
अरुचिं मूत्रकृच्छ्रं च हन्यात्पानात्ययं नृणाम् ।

(काश्मर्यादिपानकम् ।)

काश्मर्यं दाडिमं द्राक्षां मधुकं सपरुषकम् ।
 कुटजानि च संचुद्य प्रक्षिपेत्तु जलाढके ।
 सूक्ष्मैला मधुकं लोध्रं मञ्जिष्ठा पिप्पली तथा ।
 एतानि सूक्ष्मचूर्णानि दद्यात् पानं च युक्तितः ।
 केसरं चात्र दातव्यं पुष्पं नीलोत्पलस्य च ।
 एतत् पानात्यये देयं तृषाङ्गिर्दिनिवारणम् ।
 हे गुडूची पले हे च बला द्विपलमेव च ।
 लामञ्जिकामृणालाभ्यां हे परो(ले) मधुको(का)त्पलम् ।
 एतान्यापीथ्य तुल्यानि नवे भाण्डे जलाढके ।
 गुडस्य च पलान्यष्टौ दद्यान्नीलोत्पलं तथा ।
 एतत्पानात्यये देयं पानकं केसरैर्युतम् ।
 ज्वरदाहतृषाश्वासान् कृदिं हिक्कां च नाशयेत् ।

(पानकैः पानात्ययानुपशमे चिकित्सान्तरम् ।)

यदि संशमयेन्नैतत् न शास्येत्यानविभ्रमः ।
 पाययेत्तं चित्तचूर्णं युक्त्या मद्येन संयुतम् ।
 पिवेद्विरेचनं चूर्णं महातर्पणमेव वा ।
 पूर्वोक्तान् मोदकांश्चापि भक्षयित्वा पिवेत्सुराम् ।
 वमनीयं यदा वीर्यात्तथैनं वामयेद्विषक् ।
 वमनैर्मद्यसंयुक्तैश्चूर्णैः पाचनकैरपि ।
 यवक्षारैश्च संसर्गं तस्य कुर्याच्चिकित्सितम् ।

(पानात्यये पानमेवौषधम् ।)

नहि पेयाः प्रशस्यन्ते मनुष्याणां मदात्यये ।
 मदात्यये प्रशस्यन्ते यद्वा(वा)ग्वो दोषनाशनाः ।
 यस्मात्पानस्य पीतस्य वेगं जनयते पुनः ।
 स मद्यशेषः संतृप्तः कुर्याद्वीरानुपद्रवान् ।
 तस्मात्पानात्यये पथ्या स्नेहाः पेया यवाग्वपि ।

सूक्ष्माणि देहस्रोतांसि मद्यं समनुधावति ।
 तिष्ठत्यवयवैश्चान्यै स्त्रोतस्सु विषमेष्वपि ।
 भिषग्घृतांस्तु कोष्ठस्थान् कोपयत्यनिलादिकान् ।
 धातवस्ते खरीभूता विवृद्धा पानदूषिताः ।
 पानेन सह संसृष्टा जनयत्यामयान् बहून् ।
 व्यवायं मद्यमुद्दिष्टं विशेषेण मनोषिभिः ।
 ये तु सूक्ष्मास्तु विषया मद्यान्धमनुयान्ति वै ।
 नहि तन्विषयानन्यो रसश्शक्नो विधारितुम् ।
 तस्मात्पानात्ययान्धानां पानमेवौषधं परम् ।
 स्वां हि योनिं च तत् पानं प्रलीनं कोष्ठमाश्रितम् ।
 वशीभूतं प्रदुष्टेन महास्रोतः प्रपद्यते ।

(विषचिकित्साया पानात्ययचिकित्सा ।)

आर्तस्य मद्यसंयुक्तान्यौषधान्यपि सर्वशः ।
 मदात्यये प्रकुर्वीत क्रियाः शीताश्च सर्वशः ।
 अतश्च मद्यसंयुक्तास्तर्पणाः खलु देहिनः ।
 देयाश्चातिविरिक्ताय स्त्रोतसां शोधनाय च ।
 ओष्णप्राक्तैष्णप्रादिकासित्वाङ्गवायित्वाच्च रौच्यतः ।
 तुल्यं हि रसवीर्याभ्यां विषं मद्यं च कीर्तितम् ।
 तस्मात्तत्तत्क्रियाः सर्वा विषवत्समुपाचरेत् ।

(पानात्ययवर्ज्या भोज्याश्च ।)

क्लेदनं तीक्ष्णमुष्णं च विदाह्य वनधारकम् (?) ।
 तस्मादुष्णोदकं स्वेदं धूमपानं च सर्पिषः ।
 ज्वालानलं तु सर्वेषां यवागूश्च विवर्जयेत् (?) ।
 दधि दुग्धं च शाकं च ग्राम्यान्पूदकानि च ।
 तिलपिष्टकं (शृ)तं चैव पानरोगी विवर्जयेत् ।
 शालीन् सषष्टिकान् सुद्धान् जाङ्गलान्मृगपक्षिणः ।
 पानात्यये प्रशंसन्ति भोजनेषु चिकित्सकाः ।

(वातिकपानात्ययचिकित्सा ।)

समेषु धातुकोपेषु विरिक्तेषु च मे शृणु ।
 अतिमात्रं यदा पानं पित्तं कोपयतेऽनिलः ।
 संदृश्य वातिकं रूपं तस्य कुर्याच्चिकित्सितम् ।
 सौवर्चलव्योषथुतं मद्यं माक्षिकसंयुतम् ।
 चुक्रवारिम(१)संयुक्तं वातपानात्यये हितम् ।
 तोयं मद्यं च शुक्तं च दधि त्वक् च काञ्चिकम् ।
 समाक्षिकस्तरपणोऽयं वातपानात्यये हितम् ।
 अभ्यङ्गो मर्दनं स्नानं पानान्यर्थो(र्धो)दकारिण (१) च ।
 व्यक्ताम्लवेषसंयुक्तान् रसान् ब्रीहौ च शीलयेत् ।
 छागलं तैत्तिरिं क्रौञ्चं कौक्कुटं बर्हिणं तथा ।
 वातपानात्ययार्तानां भोजनार्थं हितं नृणाम् ।
 आम्ब्रमाम्ब्रातकं भव्यं कपित्थं करमर्दकम् ।
 पूर्वकल्पेन पातव्यं पानकं वातरोगिणाम् ।
 सारसौवर्चलं हिङ्गु मातुलुङ्गं महीषधम् ।
 तथाऽजमोदचूर्णं च मद्येन सह पाययेत् ।

(पित्तपानात्ययचिकित्सा ।)

पानात्यये पित्तकृते पानकं शर्करायुतम् ।
 पिबेन्माक्षिकसंयुक्तमर्धतो(२)यपरिप्लुतम् ।
 केचित्पानं तु गर्हन्ति पित्तपानात्यये नृणाम् ।
 तस्माद्यासहिनत्यं त्रिनाचान्यैः चिकित्सितम् (१) ।
 संयुक्तं तद्धि पित्तघ्नेर्मद्यमेवातिरेवतु (१) ।
 विदार्यामलकानां च रसैरिन्दुरसेन वा ।
 मधूकमधुकाश्मर्यखर्जूरं नीलमुत्पलम् ।

(१) अर्धोदकं पयः शिष्टसामान्यतरे स्मृतम् ॥ इति हेमाद्रौ ॥

(२) अर्धोदकम् ।

पानकं मद्यसंयुक्तं पूर्वकल्पोन साधयेत् ।
 आर्द्रक्षौमपरिष्कृता मुक्तामणिविभूषिताः ।
 श्यामाश्चन्दनदिग्धाङ्गस्स्वप्यादाश्लिष्य योषितः ।
 मद्यं खर्जूरकल्पोन पिबेदित्तरसेन वा ।
 पक्वं पीलुरसं वाऽपि वार्ताकीरसमेव वा ।
 रसो द्राक्षाविदारौभ्यां मद्यमिच्छुरसो मधु ।
 पित्त(पा)नात्ययार्तानामेतत् पानं हितं नृणाम् ।
 दृतिं हिमाम्बुसंपूर्णां गन्धमाल्यासमुज्जिताम् ।
 स्वप्यात्परिष्वज्य गृहे पित्तपानात्ययार्दितः ।
 सरसा वनराजिश्च नलिनी फुल्लपङ्कजा ।
 भवेत् पङ्कजपत्रैश्च शयनं चन्दनोक्षितम् ।
 उपगृह्य मृणालानि कल्हारकुसुमानि च ।
 शयीत जलसंसृष्टव्यञ्जनैरुपवीजितः ।
 पानात्यये पित्तकृते शस्त्रकर्म विषोपमम् ।
 जाङ्गलैर्घृतसंयुक्तैः भोजयेद्रक्तशालिकान् ।
 मुत्रयूषेण वाऽशीत भोजयेन्मृदुलौदनम् ।
 त्रिफलायाः कषायं वा पिबेन्मद्येन संयुतम् ।
 क्षौद्रेण रसमिक्षीर्वा त्रिवृत्कल्पो न वा पुनः ।
 त्रिफलात्वङ्मधूकानि पद्मकं पद्मकेसरम् ।
 नीलोत्पलं मृणालानि नलदं चन्दनं बला ।
 सिद्धं कषायं शीतं तैः शर्करामधुसंयुतम् ।
 किञ्चिन्मद्येन संयुक्तं पित्तपानात्यये हितम् ।
 द्राक्षा पीलूनि पक्वानि खर्जूराणि परुषकम् ।
 चव्यं पनसमञ्जा च मञ्जा ताअ(ळ)फलस्य च ।
 आपोथ्य तानि सर्वाणि पलांशानि जलाढके ।
 चतुर्भागावशेषे तु नवे कुण्डे समावपेत् ।
 दत्त्वा शीतोत्पलान्यष्टौ पलं नीलोत्पलस्य तु ।
 तत् पिबेत्पानकं युक्त्या पित्तपानात्ययार्दितः ।

(श्लेष्मपानालयचिकित्सा ।)

श्लेष्मिके वातरोगे च मद्येन वमनं हितम् ।
 पटोलं पिचुमन्दं च मदनस्थं च पल्लवम् ।
 गुलूची चाटरूषश्च त्रिफला पारिभद्रकः ।
 कषायं पाययेदेतं शीतं माक्षिकसंयुतम् ।
 नित्यं सेवेत तित्क्तानि कषायकटुकानि च ।
 जाङ्गलानि च मांसानि सेवेत मृगपक्षिणाम् ।
 पिबेत् कुटन्नटाचूर्णं त्रिफलारससंयुतम् ।
 दीपनीयांश्च सेवेत योगान्पानेन नित्यशः ।
 विकारि श्लेष्मणि हितं मद्यं भूयिष्ठमेव हि ।
 तस्मात् पानालये मद्यं श्लेष्मिके परिचक्ष्यहे ।

(सन्निपातपानालयचिकित्सा ।)

एषा विमानतः प्रोक्ता श्लेष्मपानालये क्रिया ।
 सर्वतः सन्निपाते तु सदा कुर्याच्चिकित्सितम् ।
 अहानि सप्त चाष्टौ वा नृणां पानालये स्मृतम् ।
 पानं हि भजते जीर्णमतं ऊर्ध्वं विमार्गतः ।
 अनेन कालयोगेन यो रोगो न निवर्तते ।
 कृत्वाऽनुपूर्व्यां पानस्य कुर्यात्तत्तच्चिकित्सितम् ।
 हिक्काश्वासदयो रोगा ये च सर्वे समुत्थिताः ।
 तेषां चिकित्सितं कुर्याद्यथा स्वे स्वे चिकित्सिते ।
 इति पानालयादीनां विस्तरेण चिकित्सितम् ।
 प्रजाहितमिदं प्रोक्तं शिष्याणामर्थसिद्धये ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले चिकित्सिते त्रिंशोऽध्यायः ।

इति भेले चिकित्सास्थानं समाप्तम् ॥

अथ कल्पस्थानम् ।

अथातो मदनकल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्नाह भगवानात्रेयः ।

(मदनकल्पप्रयोगः ।)

पिण्डीतकानि तु त्रीणि संग्रहोक्तानि मे शृणु ।
क्षणो ज्ञेय उभे तत्र तृतीयं मदनं स्मृतम् ।
फलानां त्वेवमेतेषां मदनं सर्वशोधनम् ।
वसन(1)स्थापने योज्यं तथैवाप्यनुवासने ।
यदा न परिपूर्णानि परिपक्वानि तानि च ।
भवन्ति रसवतीनि ततस्तान्युद्धरेद्विषक् ।
यवपर्णे तथैतानि तुषवर्णे तथा पुनः ।
समरात्रं वासयित्वा सङ्कु(ङ्को)चितफलत्वचः ।
सुभावितानि विज्ञाय मृदुभूतानि शास्त्रवित् ।
द्विधा त्रिधा शोधयित्वा सम्यक् संशोध्य चाऽऽवपेत् ।
धान्येषु मासं संस्थाप्य मृदा चैवावलेपयेत् ।
निधूमे च निवाते च कपाटपिहिते गृहे ।
वैहायसे स्थापयेच्च यथा स्वेदो न संभवेत् ।
एतेषां फलमज्ज्ञानं संवृतं मुष्टिमाहरेत् ।
जर्जरीकृत्य दृषदि पात्रेष्वभ्यधि(?)चाहरेत् ।
मधुकस्य कषायेण रात्रिमेकां निधापयेत् ।
अथ चोत्थाय पूर्वाह्णे हस्तौ प्रक्षाल्य मर्दयेत् ।
परिस्रुतं सलवणं मधुयुक्तं प्रताप्य च ।
पाययेदातुरं स्निग्धं कर्दयेत्तेन साधुना ।

(मदनकल्यायं जीमूतादिकषायः ।)

एतेनैव च कल्पेन जीमूतकफलैरपि ।
 इक्ष्वाकु कुटजाभ्यां च लवणैश्चापि कारयेत् ।
 कृतवेदै(धै)र्हस्तिपर्णैः धामार्गवफलैरपि ।
 कषायं कारयेदेभिः फलबीजानि भावयेत् ।
 अनेन कल्पेन भिषक् पाययेत्तु यथाबलम् ।
 मदनस्य फलान्येव पुनरुद्धारयेद्भिषक् ।
 यथा स्निग्धानि पाण्डूनि तथैव हरितान्यपि ।
 परिपूर्णानि पक्वानि तथा जातरसानि च ।
 सूच्या वा कण्टकैर्वाथ व्यथयित्वा समन्ततः ।
 मदनानां कषायेण त्रिरात्रं भावयेद्भिषक् ।
 एतेनैव च कल्पेन जीमूतकफलैरपि ।
 इक्ष्वाकु कुटजानां तु धामार्गव फलैरपि ।
 कृतवेदै(धै)र्हस्तिपर्णैः क्षर्दयेत्तेन साधुनाः ।
 सतिल्वकेन कल्पेन कुशानां वरुणस्य च ।
 काकोदुम्बरिकायाश्च कुष्ठाख्यायास्तथैव च ।
 एकैकस्य कषायेण सुस्निग्धं वामयेद्भिषक् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेल कल्पे प्रथमोऽध्यायः ।

अथात इक्ष्वाकुकल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

इक्ष्वाकूण्यङ्गरेङ्गीमान् वसन्तेऽथ शरद्यपि ।
यदा प्रपुष्पितानि स्युर्मद्यगन्धीनि वान्ति च ।
तेषां क्रियां प्रवक्ष्यामि इक्ष्वाकूणां यथाविधि ।
इक्ष्वाकुभिः पयस्सिद्धं तेनैव वामयेद्विषक् ।
पयसा दधि कृत्वा वा वामयेत्तु यथाबलम् ।
निर्मन्थ्य वामयेच्चैनं नवनीतेन वा नरम् ।
विहिता चेक्ष्वाकुष्वेषा समाख्यात(१) क्रिया मया ।
वृन्ताण्यार्द्राणि चादाय स्थापयेत्पा(फा)णितोदरे ।
एकरात्रस्थितान्यत्र हस्तौ प्रक्षाल्य मर्दयेत् ।
परिस्त्रु(स्तु)तं सलवणं मधुयुक्तं प्रताप्य च ।
पाययेदातुरं स्निग्धं कर्दयेत्तेन साधु सः ।
एतेनैव च कल्पेन इक्षुदर्भेक्षुवारिकैः ।
तथा पोटगर(ले)क्षौ च कारयेत्तु रसाढकम् ।

(इक्ष्वाकुकल्पप्रयोगान्तरम् ।)

अथवा कीविदारस्य पत्रैस्स(स्त्रं)मे(शो)धितानि तु
इक्ष्वाकूणां पल्लवानि खेदयेद्गोमयाग्निना ।
तानि खिन्नानि चोद्धृत्य क्षौदयित्वा उलूखले ।
ततः फलकषायेण स्वभ्यासिच्य समस्य च ।
एकरात्रं कषायेऽस्मिन् खनुगुप्तं निधापयेत् ।
पूर्वकल्पविधानेन वामयेत्तं यथाबलम् ।

(इक्ष्वाकुगुडिकायोगादिः ।)

इक्ष्वाकूणां प्रसृतं च सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
कीविदारकषायेण गुळिकाः कारयेद्विषक् ।

एतेनैव कषायेण विनीय गुळिकां तु ताम् ।
 यथाबलं पाययेत्तु हृदयेत्तेन साधु सः ।
 स खल्वेतेन कल्पेन कुशानां तगरस्थ च ।
 एकैकस्य कषायेण सुस्निग्धं वामयेद्भिषक् ।
 यथाबलं यथोद्दिष्टं हृदयेत्तेन साधु सः ।
 इक्ष्वाकुभिः पयस्सिद्धं पाययेत्तु यथाबलम् ।
 इक्ष्वाकूणामयं कल्पो वमनार्थाय कीर्तितः ।
 मृदुरभ्यासतस्त्रिंशद् प्रयोज्यो देशकालतः ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले कल्पस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥

अथातो धामार्गवकल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(धामार्गवकल्पयोगप्रकाराः ।)

धामार्गवास्थु(न्यु)द्धरेत वसन्ते वा शरद्वपि ।
 यथा प्रपुष्पितानि स्युः मधुगन्धि(न्धौ)नि वान्ति च ।
 समे भूमिप्रदेशेऽस्मिन् कुशरोहिषसंस्कृते ।
 कृष्णमृत्स्नाप्रभे वाऽपि अथवा स्वर्णमृत्तिके ।
 व्यातपे न नदीतीरे श्वभ्रवल्मीकयोस्तथा ।
 परिपूर्णानि पक्वानि तथा जातरसानि च ।
 भिषगुद्धृत्य मतिमान् यवपर्णे निधापयेत् ।
 बृसपर्णेऽथवा धीरः समरात्रं निधापयेत् ।
 सुभावितानि विज्ञाय मृदुभूतानि शास्त्रवित् ।
 जर्जरौकृत्य दृषदि पात्रेष्वप्येव निहरेत् ।

कोविदा(रकषा)येण रात्रिमेकां निधापयेत् ।
 अथचोत्थाय पूर्वाह्ने हस्तौ प्रक्षाल्य मर्दयेत् ।
 परिशुतं सलवणं मधुयुक्तं प्रताप्य च ।
 पाययेदातुरं स्निग्धं कर्दयेत्तेन साधु सः ।
 धमार्गवाणामेतेषां मुष्टिं संगृह्य संवृतम् ।
 जर्जरीकृत्य दृषदि पात्रेष्वभ्यवहारयेत् ।
 कोविदारकषायेण रात्रिमेकां निधापयेत् ।
 पूर्वोक्तेनैव कल्पेन वामयेत्तु यथाबलत् ।
 नलदस्य कषायेण तालीकशतपुष्पयोः ।
 कुष्ठस्य मूर्वा पाठायाः पूर्वकल्पेन कर्दयेत् ।
 धामार्गवाञ्जलिं पूर्णं सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
 श्यामाकषाये प्रक्षिप्य एकरात्रं यथाविधि ।
 तथा फलकषायेऽस्मिन् इक्ष्वाकुक्षतवेधनम् ।
 जीमूतकी हस्तिपर्णे कषाये परिभावयेत् ।
 तत उद्धृत्य संशोष्य सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
 क्लसरां तैलसंयुक्तामत्युष्णां पाययेन्नरः ।

(उत्पलादि घ्राणयोगेन वमनम् ।)

उत्पलं पुण्डरीकं च नलदं कुमुदं तथा ।
 तेन चूर्णेन संस्पृश्य घ्रातुमस्मै प्रदापयेत् ।
 सिराहृदयमाप्नोति यदुक्तं तिलमिश्रकम् ।
 त्वरितं तानि पुष्पाणि घ्रातुमस्मै प्रदापयेत् ।
 घ्रातुं पुनः पुनर्मद्यं चूर्णयित्वा मुहुर्मुहुः ।
 अनेनैव च कल्पेन सुखं वमति मानवः ।

(धामार्गवादिगुडिकाः ।)

धामार्गवाञ्जलिं पूर्णं सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
 त्रिधा विभज्य मतिमान् खनुगुप्तं निधापयेत् ।
 अथ बिल्वकषायेण द्वौ भागौ श्रोतयेद्भिषक् ।

च्युतं कषायं विमलं स्वनुगुप्तं निधापयेत् ।
 भागं तु गुलिकाः कार्या कोलकर्कंधुसम्भिताः ।
 कोविदारकषायेण पूर्वकरपेन कर्दयेत् ।
 कर्कन्धूबदराणां च कोलानां वापि सौधुना ।
 गुलिकां विधाय विधिवच्छर्दयेत्तेन साधु सः ।
 रोहितस्य च मरस्यस्य तथा कर्कटकस्य च ।
 पक्षिणामौदकानां च रसेन तु वमेत्सखम् ।
 स खल्वेतेन करपेन चान्त्रैश्च मधुबिन्दुभिः ।
 गुलिकां विधाय विधिवत् पाययेत्तां यथाबलम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले कल्पस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातः कुटजकल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(कुटजकल्पप्रकाराः ।)

वसन्ति वा शरदि वा कुटजान्युद्धरेद्भिषक् ।
 शुचिशुद्धशिरस्नातः पुष्पे(ष्ये)णाश्वयुजेन वा ।
 प्ररूढानि शुचौ देशे कुशरोहिषसंस्कृते ।
 कृष्णमृत्स्नाप्रभे वापि तथा वा स्वर्णमृत्तिके ।
 व्यातपे न नदीतीरे श्वभ्रवल्मीकयोस्तथा ।
 परिपूर्णानि पक्वानि तथा जातरसानि च ।
 कुटजानामथैतेषां मुष्टिं सङ्गृह्य संवृतम् ।
 कोविदारकषायेण रात्रिमेकां निधापयेत् ।
 अथ चीत्वाय पूर्वाह्णे हस्तौ प्रक्षाल्य मर्दयेत् ।

परिस्तुतं सलवणं मधुयुक्तं प्रताप्य च ।
 पाययेदातुरं क्षिग्धं कर्दयेत्तेन साधु सः ।
 अनेनैव च कल्पेन कषायं कारयेद्विक् ।
 कोविदारस्य बीजैश्च नीपस्य विदुर(ल)स्य च ।
 गुलुच्या(श्च) सुषव्याश्च पटोलपिचुमन्दयोः ।
 कृत्वा तु धूलिकायाश्च कषायं तेन कर्दयेत् ।
 एषामेव फलानां तु मुष्टिं सङ्गृह्य संवृतम् ।
 मधुकस्य कषायेण रात्रिमेकां निधापयेत् ।
 एतेनैव कषायेण तच्चूर्णं परिमर्दयेत् ।
 यथाबलं यथोद्दिष्टं कर्दयेत्तेन साधु सः ।
 कृतवेधनकल्पोऽयं उक्तो वमनविस्तरे । (१)
 य एवं संप्रजानाति स राज्ञां कर्तुमर्हति ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले कल्पस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथातश्चतुरङ्गुलीयं कल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(चतुरङ्गलकल्पप्रकाराः ।)

मनोज्ञ देशजातसु यो भवेच्चतुरङ्गुलः ।
 फलमुष्टिं समाहृत्य ततश्चूर्णानि कारयेत् ।
 तच्चूर्णितं त्रिधाकृत्य भागमेकं निधापयेत् ।
 द्वौ भागौ च शुचिस्सम्यक् कृत्वा मन्यनमेव तु ।

(१) कल्पस्थाने चरकी द्वादशाध्याया वर्तन्ते भेलसंहितायां तु नवैवाध्याया दृश्यन्ते । तत्र तत्र जीमूतकल्याध्यायस्तुटितः, कृतवेधनकल्पस्य तु कुटजकल्पोपसंहारे श्रवणात् तेनैव चारितार्थमिति सूच्यते । तदनन्तरं च चरकी सप्तमाध्यायोक्तः चतुरङ्गुलीयकल्पोऽत्र षष्ठाध्याये निरूप्यते । तिलक-
 मङ्गाहस्यकल्यावपि चरकोक्तौ न भेले वर्तते ।

श्रोतयित्वा परिस्त्रिंशद् सुप्रसन्नमनाति(वि)लम् ।
 परियोगं समासाद्य साधयेन्नोमयाऽग्निना ।
 तस्मिन् सुधासिच्यमाने सू(चू)क्ष्मा(र्णा)णी(ती)मानि दापयेत् ।
 हरीतकीमामलकं विभीतकफलानि च ।
 मधूकभागमावाप्य तद्विलेपनमाहरत् ।
 ततः पाणितलं चूर्णं लेह्यं तेन विरिच्यते ।
 एतेनैव च कल्पेन कण्टकाद्याः(र्याः) फलैरपि ।
 श्रोतयित्वा लेहजातं परितः स्वासवं पिबेत् ।
 चतुरङ्गुलमद्यानां मृष्टानां पूर्णमञ्जलिम् ।
 दन्तीकषाये संयोज्य परियोगमधिश्रयेत् ।
 विज्ञाय गुलिकायोग्यं गुलिकाः कारयेद्विषक् ।
 श्यामाकषायेणाऽऽलोढ्य पिबेत्तेन विरिच्यते ।
 चतुरङ्गुलैस्साधयित्वा पेययोग्यं सुसंस्कृतम् ।
 विरिच्यते तेन म(सा)धुना(स) योगेनानि(ति) योग ति(तः) ।

(पण्डामलक-ष्टतम् ।)

धात्रीफलरसद्वेणे शर्करार्धतुलां पचेत् ।
 घृतं चतुष्पलं पक्वं पृथग्धूपलं क्षिपेत् ।
 नलं वेल्लं चतुर्जातं यष्टिसैन्धवजीरकम् ।
 पलाशं विश्वमरिचं मृद्वीकायाश्चतुष्पलम् ।
 प्रस्थं कणात्रिवृतयोः मधुनाच्च निहन्तवत् (?) ।
 तत्पण्डामलकं नाम पाण्डुश्चयथुकामिलम् ।
 शिरोभ्रमणमुन्मादं आस्तपित्तविकारजित् ।

(भस्मातक योगः ।)

भस्मातकानां पवनाहतानां
 वृन्तच्यतानामिह चाढकं स्यात्
 तदिष्टकाचूर्णकणैर्विष्टम्
 प्रक्षालयित्वा विमृजेत्प्रतापे ॥

शुष्कं पुनस्तद्विदलीकृतं च
 विनिक्षिपेदप्सु चतुर्गुणासु ।
 पादावशिष्टं परिपूतशीतं
 क्षीरेण तुल्येन पुनः पचेत् ॥
 तत्पादशिष्टं पुनरेव शीतं
 घृतेन तुल्येन पुनः पचेत् ।
 तदर्धया शर्करयाऽवगाढं
 लोहाभयोव्योषकचूर्णयुक्तम् ॥
 एतत्क्षमं शर्करपादयुक्तं
 ततः खजिनोन्मथितं विधाय ।
 ग्रन्थद्वयेनामलकीमधुभ्यां
 शीतेन तुल्येन पुनः पचेत् ॥
 तत्क्षमरात्रादुपजातवीर्यं
 सुधारसादप्यधिकत्वमेति ॥
 प्रातर्विशुद्धीकृतदेहभाजा-
 मात्रां मि(पि)भे(बे)दात्मशरीरयोग्य(1)म् ।
 न चान्नपाने परिहार्यमास्ते
 नचोष्णवाताध्मनि मैथुने च ।
 जन्तुर्नितान्तं नरसिंहवत्स्या-
 न्नवेन्नरः काञ्चनराशिगौरः ।
 दन्ताश्च जी(शी)र्णा(1ः) पुनरुद्भवन्ति
 केशश्च शुक्लः पुनरेति कृष्णः ॥
 विशीर्णकर्णाङ्गुलिनासिकोऽपि
 क्त(क्त)म्यस्थि(र्दि)तो भिन्नग(क)रोऽपि कुष्ठो ।
 सोऽपि क्रमेणाङ्गुलिगात्रशाखः
 तर्यथा रोहति वारिसिक्तः ॥
 महामयूरान् जयति स्वरैण
 बलेन नागान् तुरगान् जवेन ॥

(उक्तयोगानुपानादिः ।)

(इमं भस्मातकं योगं) सुधाक्षीरेण भावयेत् ।
 तत्पिबेत्तु यथोत्साहं तेन साधु विरिच्यते ।
 दन्तक्षता तु तेजोह्वा तत्कारी सुदुरालभा ।
 कषाय क्वाथ इत्येतत्सुधा क्षीरेण मिश्रयेत् ।
 तत्पिबेत्तु यथोत्साहं तेन साधु विरिच्यते ।
 सुधा क्षीरेण गोक्षीरं एतत्स्थमभिसंस्ृजेत् ।
 तत्पिबेत्तु यथोत्साहं तेन साधु विरिच्यते ।
 कृतमूत्रपुरीषस्य वाति(ते) चाप्यनुलोमिते ॥
 प्रथमं स्निग्धकोष्ठस्य स्निग्धस्य च यथाविधि ।
 सन्ध्यावेलामतिक्रम्य विमले च दिवाकरे ।
 मैत्रे मुहूर्ते व्यक्ते तु योगानेतान् प्रयोजयेत् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले कल्पस्थाने षष्ठोऽध्यायः ।

अथातो दन्तीफलकल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(दन्तीकल्पप्रकाराः ।)

त्रिधा विभज्य मतिमान् स्वनुगुप्तं निधापयेत् ।
 रसे वाऽमलकस्यापि द्वौ भागौ श्रोतयेद्विषक् ।
 च्युतं कषायं विमलं परियोगमधिश्रयेत् ।
 तस्मिन् सुधासिच्यमाने तच्चूर्णमभिसंस्ृजेत् ।

तस्माच्च त्रिफलाचूर्णं आवपेन्मधुसंयुतम् ।
 लेहभूतं विदित्वैनं अथैनमवतारयेत् ।
 तस्य पाणितलं चूर्णं लेह्य तैस(न) विरिच्यते ।
 एतेषां चैव मूलानां कृत्वा चूर्णानि सूक्ष्मतः ।
 श्यामाकषायेणाऽऽलोढ्य स्वकं सिद्धं विपाचयेत् ।
 जानीयात्तद्यथा सिद्धं अथैनमवतारयेत् ।
 तद्दृढे मधुलिप्ते तु नवे कुम्भे समावपेत् ।
 मृत्स्नातु(भिः) खनुलिप्ते तु खनुगुप्तं निधापयेत् ।
 प्रसृतं पाचयेत्तत्र तेन साधु विरिच्यते ।
 एतेषां चैव मूलानां कृत्वा चूर्णानि सर्वशः ।
 बृहतीरससंमिश्रैः गुलिकां कारयेत्तु तैः ।
 गुलिकां कारयित्वा तु कर्कन्धुर्वदरोपमाम् ।
 श्यामाकषायेणाऽऽलोढ्य द्वे वा तिस्रोऽपि वा ततः ।
 पाययेत्तु यथोक्ताहं तं स्निग्धस्वेदितं नरम् ।
 विरिच्यते तेन साधु नां(स) योगिनारी(ति)योगतः
 स्नेहादिस्नेहमूलं तु प्रच्छर्दनं विरेचनम् ।
 नोपजः (?) स्निग्धकोष्ठस्य विशुध्यति विशोधनं ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले कल्पस्थाने सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः शङ्खिनीकल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्नाह भगवानात्रेयः ।

(शंखिनीतैलकल्पप्रयोगः ।)

फलानि परिपक्वानि शङ्खिन्यास्तूङ्घरेद्भिषक् ।
अन्तरे चैत्र वैशाखमव्यग्रे यवसङ्ग्रहे ।
अनूपरे निरुद्धारे क्षेते सूर्यप्रतापिते ।
क्षणमृत्स्नाप्रभे वाऽपि तथाच स्वर्णमृत्तिके ।
न व्यञ्जे न च वल्मीके न चापि तृणच्छादिते ।
सुसमे भूप्रदेशे तु या जाता शङ्खिनी भवेत् ।
तत्र द्रोणिं समारास्य तद्भाने सिद्धिबन्धनम्(?) ।
यवपर्णौषितां चाऽपि समीत्यद्भृ निधापयेत् ।
सप्तरात्रं (वाऽथ)भा(मा)समाचा(च्छा)द्य च समन्ततः ।
आतपे परिशुष्काणि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
पलानामथवैतेषां द्वौ भागौ कारयेद्भिषक् ।
तिलं तृतीयकं कृत्वा क्षोदयित्वा उलूखले ।
सम्यक् दि(ट्)षदि निष्पिष्टा(ष्ट्य) तैलमुद्धारयेत्ततः ।
शङ्खिन्या ह्यक्षमात्रं तु त्रिवृत् कल्कमथाऽपि वा ।
तस्मिन् तैले पयश्चैव भिषग्दद्याच्चतुर्गुणम् ।
एतत्सर्वं समालोड्य पाचयेन्मृदुनाऽग्निना ।
पक्वमाहृत्य विस्त्राय्य स्वनुगुप्तं निधापयेत् ।
तस्याञ्जलिं प्र(त)सि(द)र्द्धं वा प्रसृतं वाऽपि पाययेत् ।
विरिच्यते तेन साधुना(स)योगं(गे) नातियोगतः ।

(शंखिनीचूर्णयोगः ।)

सूक्ष्मस्याथ शङ्खिन्या चूर्णस्य प्रसृतं सूतम् ।
क्षीरपात्रेण संयोज्य पल(रि)योगमधिश्रयेत् ।
तथा प्रहृत्य विस्त्राय्य शीतौकत्याभि स(म)न्ध(न्य)येत् ।

तत्रयं(य) न(न्न) वनीतं स्यात्तदुद्धृत्य विपाचयेत् ।

शङ्खिनीफलकल्केन क्षीरेण सलिलेन च ।

स पिबेत्तद्यथोक्ताहं तेन साधु विरिच्यते ।

(शंखिनीफलकल्कयोगः ।)

शङ्खिनीफलकल्कं तु सम्यग्दृष्टदि पेषयेत् ।

गोक्षीरेण समालोढ्य पिबेत्तेन विरिच्यते ।

एतेनैव च कल्पेन उद्धृक्षीरेण पाचयेत् ।

अजाक्षीराविकाक्षीरा(रे)माहिषे वाऽथवा पुनः ।

गोमूत्रेणोष्ट्रमूत्रेण अविमूत्रेण वा पुनः ।

अथवा हस्तिमूत्रेण पचेत्तेन विरिच्यते ।

आमृद्यन्नथ मृद्वीकां दापयेत्पा(फा)णितोदरे(के) ।

भृष्टा तु शङ्खिनीतैले परियोगमधिश्रयेत् ।

अर्धचूर्णानि पिप्पल्या हरितक्याश्च दापयेत् ।

अतः पाणितलं प्राश्य तेन साधु विरिच्यते ।

(शंखिनीमोदकयोगादिः ।)

शंखिनीफलमद्यानि दातव्यं लवणं तथा ।

शङ्खिनीतैलभृष्टानि फाणितेता(नाऽ)थ संसृजेत् ।

गोधूमाज्ये(द्ये)न संसृज्य मोदकान् कारयेद्भिषक् ।

तांस्त्रीन् द्वौ वाऽथ संभक्ष्य ततस्साधु विरिच्यते ।

सुरां सौवीरकं तक्रं दधिमस्तु तुषोदकम् ।

कटफलं कोलसि(वि)न्धुं(न्दुं)वा तधिपक्वं तसन्तथा(?) ।

कर्कन्धूवदराणां वा सि(वि)न्धुं(न्दुं) पीलुप्रियालयोः ।

भव्यपारावतानां च मृद्वीका मद्यमेव वा ।

ज्वलशिशुकपित्त्यानां विल्वरसान्वा सह पाययेत् ।

अयं तु शङ्खिनीकल्पो मया तु समुदाहृतः ।

य एवं संप्रजानाति सा राज्ञां कर्तुमर्हति ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले कल्पस्थाने अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः श्यामात्रिवृत्कल्पं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(श्यामात्रिवृत्चूर्णयोगविशेषाः ।)

श्यामायास्त्रिवृतायाश्च मूलान्युद्धारयेद्विषक् ।
कल्याणदेशजातायाः कुशरोहिषसंस्कृते ।
कृष्णमृत्स्नाप्रभे वाऽपि अथवा स्वर्णमृत्तिके ।
मूलान्येतानि संगृह्य सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
स्थिराकषायं संगृह्य पाययेत्तु यथाबलम् ।
विरिच्यते तेन साधु स योगेनातियोगतः ।
त्रिफलारसमात्रेण द्राक्षापीलुरसेन वा ।
आलोच्य वाऽपि पयसा सर्पि(स)ला(लां)वाऽपि पाययेत् ।
हरिणस्य रसं दद्यात् न्यङ्कोश्च महिषस्य च ।
खड्गस्य कलविड्गस्य तित्तिरेर्लावुकस्य च ।
रसमन्यतमं तेषां त्रिवृच्छ्यामाप्रयोजितम् ।
यथाबलं पाययेत्तु सुस्निग्धं खेदितं नरम् ।
श्यामायास्त्रिवृतायाश्च कृत्वा चूर्णानि सूक्ष्मशः ।
त्रिधा विभज्य त्रितयं स्वयं गुप्तं निधापयेत् ।
प्रियङ्गुतिगरं चैव तालिसं नलदं तथा ।
रसेन तु प्रियङ्गूणां द्वौ भागौ श्वेतयेद्विषक् ।
भोजने तु परिस्त्राय सुप्रसन्नमनाविलम् ।
परियोगमधिश्रित्य पाचयेन्मृदुनाऽग्निना ।
तस्मिन् सुधा सिच्यमाने चूर्णान्येतानि धापयेत् ।
प्रियङ्गुं तगरं चैव तालिसं नलदं तथा ।
हरिविरं च मुस्तां च वलां कालां न(स)रा(शा)रिवाम् ।
अशोकपुष्पचूर्णानि पद्मसौगन्धिकानि च ।
नलिनं पुण्डरीकं च पिप्पलीमूलमेव च ।

मधुना सह संसृज्य लेह्यात् पाणितलं मितम् ।
सुस्निग्धो जीर्णयुक्तश्च यथाशास्त्रं यथाबलम् ।
विरिच्यते तेन साधु स योगिनातियोगतः ।

(पैत्तिकविरेचने योगान्तरम् ।)

चन्दनं पद्मकं नीपं सालं सप्तच्छदं तथा ।
पुनर्नवा तु पललं किरातं तिक्तमेव वा ।
ये चाऽन्ये तिक्तमधुरा रसाः पूर्वं प्रकीर्तिताः ।
तेषां कषायैर्योज्यं स्यात् पैत्तिकानां विरेचनम् ।
पारावतान् कपोतांश्च क्रौञ्चवर्हिणकुक्कुटान् ।
क्षुरङ्गान् हरिणानिणान् हरितान् कालपुच्छकान् ।
वर्तकान् तित्ति(रो)रिश्चैव शशलावकपिञ्जलान् ।
रसैस्त्वेकपयुञ्जीत पैत्तिकस्य विरेचनम् ।
साराव(व)लानि(दि) चूर्णानि पत्राणि च पयांसि च ।
य उक्ता स्थावराः पूर्वं तथैव मृगपक्षिणः ।
पानानि च फलिकाथकषायादिद्रवान् रसान् ।
लि(ले)हां(न्) भक्षांश्च ना(वाऽ)न्नादीन् तेभ्यस्समभिकल्पयेत् ।
परुषकस्य द्राक्षाया रसं समधुशर्करा(रम्) ।
त्रिवृदक्षसमायुक्तं पीत्वा साधु विरिच्यते ।

(त्रिवृन्मोदक-लेह योगः ।)

साधयेच्छर्करायुक्तं समै(मे)व(न) मधुना भिषक् ।
मृ(ष्ट)ते तस्मिन् त्रिवृच्चूर्णं यथाकोष्ठं समावपेत् ।
ततः कपिल्लकं चूर्णं द्वे शते तिन्दुकस्य च ।
आरग्वधफलान् मध्यभागाश्चाक्षत(स)मास्तातः ।
त्रिवृच्चूर्णस्य धरणं शर्करा मधुरं मधु ।
मरीचं नागपुष्पं च तत्पत्रं च सुचूर्णितम् ।
एतत्सर्वं समायोज्य मोदकं कारयेद्भिषक् ।
अथवा कारयेत्लेहं तेन साधु विरिच्यते ।

द्राक्षारसस्य कुडवं परूषकरसस्य च ।
मधुनः कुडवार्धं च शर्कराफ(प)लमेव च ।
त्रिवृच्चूर्णकृतो लेहः तेन साधु विरिच्यते ।
एतदुच्छन्नदोषाणां ईश्वराणां विरेचनम् ।

(पैत्तिकश्लेष्मिकविरेचनयोगान्तराणि ।)

शर्करा मोदकं वाऽपि गुडकं मू(वा)षपूरकम्(परूषकम्) (?) ।
अनेन विधिना कुर्यात् पैत्तिकानां विरेचनम् ।
त्रिवृच्चूर्णानि पिप्पल्याः फलान्यारग्वधस्य च ।
कल्कानक्षसमानेतान् पिबेद्दीरो विरेचनम् ।
त्रिवृच्चूर्णस्य धरणं शर्करा मधुकं मधु ।
एतदक्षसमायुक्तं पीत्वा साधु विरिच्यते ।
त्रिवृच्चूर्णानि पिप्पल्यो यवक्षारौ महौषधम् ।
श्लेष्मकोपस्य शान्त्यर्थं लिङ्घ्यात्तेन विरिच्यते ।
अविमूत्रमजामूत्रं उद्वस्य महिषस्य च ।
मृगस्य मूत्रं गोमूत्रं गर्दभस्य द्विपस्य च ।
एतान्यष्टौ प्रयुञ्जीत पृथग्वा यदि वा सह ।
त्रिवृच्चूर्णं विमिश्राणि विलिख्य मधुनाऽपि वा ।
अजातानि च मध्या(द्या)नि तीक्ष्णानि निशितानि च ।
त्रिवृच्चूर्णविमिश्राणि पीत्वा साधु विरिच्यते ।
त्रिवृच्चूर्णं यथाकोष्ठं श्लेष्मकः पातुमर्हति ।

(लेहविशेषाः ।)

त्रिवृतायाः कषायेण सक्षौद्रं वाऽस्त्ववेतसम् ।
अथवा दधिमण्डेन कोलकानां रसेन वा ।
कुलुत्थमूर्वायूषैर्वा सतीनचिरिबिल्वयोः ।
यवकोलकयूषेण पिबेत्कोलत्थमेव वा ।
युक्तं वा तैन्त्रिणीकेन सान्त्वितसदाडिमम् ।
यधेण शिग्रको(ना)ना(गा)न्ना मूलकानां रसेन वा ।

रसेन(१) मलकानां वा बीजपूरार्जकस्य वा ।
 कपित्थरसमण्डेन करमर्दरसेन वा ।
 यच्चान्यदपि वा किञ्चित् फलमश्लमिति स्मृतम् ।
 पिवेत्तत् स्वरसैर्वाऽपि पञ्चमूलोरसेन वा ।
 कटुकक्लविमिश्रं वा यवक्षारेण संयुतम् ।
 मृद्बीकाफलकल्केन लेहार्थमुपकल्पयेत् ।
 प्रत्येकस्य फलानां च पूर्वोक्तानां चिकित्सकः ।
 सुजातानां सुपक्वानां प्रत्यग्रं ग्राहयेद्रसम् ।
 तवाश्लवणीभूते विरिच्यात्सैन्यवो भवेत् ।
 लेहेऽस्मिन् त्रिवृताचूर्णं यथाकोष्ठं समावपेत् ।
 सक्षौद्रं सगुडं वाऽपि लिङ्घ्यात्सकटुकं तथा ।
 एतेन विधिना कुर्यान्मोदकान् षो(षा)डशा(वा)न् रसान् ।
 पानानि च फलाश्लानि भक्ष्यं भोज्यं च संस्कृतम् ।
 एतद्ग्राह्यां समाख्यातं ईश्वराणां विरचनम् ।
 विधिमेवं प्रयुञ्जीत इमं चान्यं चिकित्सकः ।

(आमलकादिमोदकादियोगः ।)

शाण्णमामलकानां च विभीतकफलानि च ।
 त्रिवृता समला दन्ती शङ्खिनी चतुरङ्गुलम् ।
 हरीतकीनामेकं च यवक्षारो न(व)चैव हि ।
 पिप्पलीनां च शाण्णं स्याद्विलङ्घ्यं शाण्णमेव च ।
 त्रिवृच्चूर्णस्य त्रिंश(१)णा तत्सर्वमवचूर्णयेत् ।
 तानि चूर्णानि मधुना सर्पिषा वा गुडेन वा ।
 लेहं वा विधिना (कुर्यात् मोदकान् वा चिकित्सकः ।)

इत्याह भगवानात्रेयः ।

(इति भेले कल्पस्थाने नवमोऽध्यायः ।)

(इति कल्पस्थानं समाप्तम् ।)

अथ सिद्धिस्थानम् ।

(वमनविरचनयोर्देशकालभोज्य परिमाणादि विवेकः ।)

रिक्तकोष्ठस्य वमने मारुतः संप्रकुप्यति ।

प्लीहा प्ल(प्र)चलत(ति)स्थानात्तस्माद् दोषान् निहन्त्यसून् ।

पेयां(यं) मण्डं पिबेत्तस्मात् सुस्निग्धं लवणान्वितम् ।

सौम्ये तिथौ मुहूर्ते च नक्षत्रे करणे शुभे ।

शुक्लवस्त्रो शुचिर्भूत्वा अर्थयित्वा द्विजन्मनः ।

ततोऽस्मै वमनं देयं पूजयित्वा भिषग्वरान् ।

प्राङ्मुखेन तु दातव्यं निवाते करणे शुभे ।

नचास्य कुर्यादायामं मण्डं भोज्यं प्रशस्यते ।

विधिरेष भवेत्कार्यो वमने च विरेचने ।

निष्पावस्य त्रयः प्रस्थाः मागधा तु कनीयसी ।

ज्येष्ठे तु पुरुषे ज्येष्ठं वमने न कनीयसम्(?) ।

चतुःप्रस्थं तु मयस्यात् ज्येष्ठं तुव्यस्य(?) ।

.....तं ज्येष्ठं त्रिविधानि पृथक् पृथक्(?) ।

अधीतपूर्वं वमनं विरेको वाऽपि येन तु ।

कनीयसा प्रमाणेन परीक्षेत स बुद्धिमान् ।

त्रिपलं श्रेष्ठमाख्यातं कनीयसु पलं भवेत् ।

मध्यमं हे पले विद्यादिति मे निश्चिता मतिः ।

विषकुष्ठहता ये तु कासश्वासप्रपीडिताः ।

तरुणा बलवन्तश्च वामयेदुत्तमेन तान् ।

मध्यमे प्राणवयसि मध्यमं तत्र कारयेत् ।

कनीयसीं कनीयांस्तु तथा प्राणे कनीयसि ।

विपरीतं प्रयुञ्जानो न रोगान्विजयिष्यति ।

उपद्रवान्वा वि(ज)ज(न)येदातुरं वा विनाशयेत् ।

(वमन प्रधानौषधम् ।)

अंकीलस्याथ निंबस्य निष्पावं साधु योजयेत् ।
 सर्पिषा भेषजैश्चेमैः सुखोष्णं शीतमेव वा ।
 मदनस्य पलं पिष्ट्वा देवदालीफलैस्त्रह ।
 निम्बपत्राणि सार्द्राणि सैन्धवं मरिचानि च ।
 सैन्धवेन समायुक्तं तक्रमंडेन वा पुनः ।
 बन्धुजीवोऽथ पिप्पल्यो मदनं सर्पिरेव च ।
 तत्कषायेण संयुक्तं प्रधानं वमनौषधम् ।
 मदनं बन्धुजीवश्च शतपुष्पा शुकानसा(ना) ।
 सैन्धवेन समायुक्तं प्रधानं वमनौषधम् ।

(वमनप्रधानयोगान्तरम् ।)

मदनस्य च पत्राणि पुष्पाणि सरलानि च ।
 सैन्धवं बन्धुजीवश्च राजकोषातकानि च ।
 एष प्रच्छर्दने योगः प्रधानं वमनौषधम् ।
 निष्ठश्च विषयुक्तेषु काशश्वासे तु पूजितः ।
 यदा तु वमनं पीतं प्रच्छर्दयति मानवम् ।
 किं तत्र भेषजं कुर्यात् कथं वैद्यस्समाचरेत्(?) ।
 दर्शयेत्तस्य भिषक् फलितानि पृथक् पृथक् ।
 मल्लिकाको(शो)शि(क)चूर्णानि तत्र मण्डो(न)योजयेत् ।
 एतेन तु प्रयोगिणं क्षिप्रं हृदयते नरः ।
 एषा क्रिया समाख्याता दुर्बलानां विशेषतः ।

(वमनक्रमः ।)

हृदयं पृष्ठदेशं च विगृह्य च वमन्नरः ।
 न चास्य चलति स्थारापियाह्वस्त्रिभुपक्रमे(?) ।
 कर्णं हि पूर्वं वमति ततः पित्तमनन्तरम् ।
 पित्तस्थान्ते भवेद्वातः ततो वमति शोणितम् ।

(सम्यग्वान्त लक्षणम् ।)

लक्षणानि तु वक्ष्यामि सम्यग्वान्तस्य देहिनः ।
लघुरामाशये शुद्धिः हृच्छुद्धिश्चाप्यतन्द्रिका ।
क्षुत्पिपासे यथाकालं स्त्रोतःशुद्धिर्यथाग्नितम् ।
श्लेष्मिकानां च सर्वेषां व्याधीनां विनिवर्तनम् ।
नच वैरस्यमास्यस्य सम्यग्वान्तस्य लक्षणम् ।

(अतिवान्त लक्षणानि ।)

अतिवान्तस्य लक्ष्माणि संप्रोक्तानि निबोध मे ।
हृल्लासोऽथऽशिरोहर्षो मन्य(1)कण्ठश्च दीर्यते ।
अत्युद्गारस्तमः कासो हिक्का श्वासः स्वरक्षयः ।
वातज्वरः शुष्कवमिः तृष्णा शूलो ह्यनिद्रता ।
आस्यहृच्छोषणं चैव क्षतश्च रुधिरागमः ।
इन्द्रियाण्यपकृध्यन्ते मूर्च्छा चास्योपजायते ।
हनुस्तम्भश्च कम्पश्च त्य(प्र)तिवाते प्रवर्तते ।
ऊर्ध्वरक्तप्रमेहोऽथ गुल्मि(त्सः) चार्शोभगन्धरे ।
उदरी पाण्डुरोगी च हृद्रोगी कृमिकोष्ठकः ।
अपस्मारो विषार्तश्च शोफः स्तम्भश्च वातिकः ।
विषमज्व(र)वि(वी)सर्पि(र्पी) वातशोणितकश्च यः ।
अर्शोऽतिविषमग्निश्च कुष्ठश्चयथुपीडितः ।
पित्तश्लेष्मसमुत्थाना व्याकुला ये च च धातवः ।
सन्निपातसमुत्थाश्च योनिदुष्टाश्च या स्त्रियः ।
शूलार्ता रक्तगुल्मिन्यो याश्च सौम्येन पीडिताः ।

(सुविरक्त लक्षणम् ।)

अस्त्रिग्धो रक्त.....नां लाघवं गात्रमार्दवम् ।
हृदयोद्गारमूलाणां शुद्धिर्वातानुलोमतः ।
प्रसन्नस्वरवर्णत्वं बुभुक्षा व्याधिनिग्रहः ।
श्लेष्मणां च स्वयं स्थानं सुविरक्तस्य लक्षणम् ।

(दुर्विरक्त लक्षणम् ।)

उदरं वातसंपूर्णं कण्डूमण्डलसंभवम् ।
पिट(टि)कजन्म गात्रेषु भ्रमणे ज्वरसंभवः ।
हृदयावेष्टनं बाह्योर्विषादः कुक्षिगौरवम् ।
क्लृष्टविण्मूत्रवातत्वं दुर्विरक्तस्य लक्षणम् ।

अतिविरक्त लक्षणम् ।

मृत्या शूलं गुदभ्रंशः शाखासंकोचसंभवः ।
वातवृद्धिर्विसंज्ञत्वं गुदशूलस्तृषा क्लमः ।
शून्यता जर्जरीभावः ततश्चिमिचिमायनम् ।
रूपाण्यतिविरक्तानां शूलः शोफश्च जायते ।

(दुर्विरक्तादीनां भोज्यनिर्णयः ।)

गौरवे दुर्विरक्तस्य यदजीर्णं तदुल्लिखेत् ।
सात्स्यं तु पेयं भैषज्यं निरुहोन्नाढवर्चसाम् ।
रूपाण्ये(ण्य)ते(ति) विरक्तस्य महत् क्षीरघृतादिभिः ।
क्षौद्रैश्चैवोपनाहैश्च अभ्यङ्गैश्च भिषक् जयेत् ।

(इति भेले सिद्धिस्थाने प्रथमोऽध्यायः ।)

(नस्यविभागः, शीर्षविरेचनचिकित्सा रोगाश्च ।)

अवपीडानुवासाश्च धूमाः प्रधमनानि च ।
चतुर्विधं नस्यमाहुः पृथक्त्वेन तु मे शृणु ।
मलगृहो रोहिणिका शंकरोर्दावभेदकः(?) ।
प्रतिश्वासश्च कासश्च श्वासो हिक्का बिडालिका ।
मुखरो(शो)षो ह्यपस्मारो दन्ततालुकविद्रुधि ।
दन्तपुष्पुटकश्चैव पूतिनासामुखं तथा ।
अभिथन्दाश्च चत्वारः तन्द्रा येनवसंभवाः(?) ।

सार्बुदाश्चाप्यदामन्दाः नासार्शश्च भगन्धरा(?) ।
उपजिह्वगलग्न्यः कण्ठतालुक एव च ।
गलशुण्डिकालसके कायं शीर्षविरेचनम् ।

(शीर्षविरेकौषधानि ।)

मरिचानि विलङ्गानि पिप्पल्योऽथ फणिज्जकः ।
क्षवत्तो धवनक्षैव(?) श्लिष्टबीजं मयूरकम् ।
हिङ्गुसौवर्चलं भार्ङ्गी रक्तमालफलानि च ।
ज्योतिष्मती शृङ्गिवरं शैरोषं बीजमेव च ।
एतच्छीर्षविरेकायं उक्तव्याधिषु योजयेत् ।

(शीर्षविरेचनान्तराणि ।)

अवपीडोऽथ भू(धू)मो वा द्रव्यशस्सर्वशोऽपि वा ।
एतैरेवौषधगणैस्तैलं धीरो विरेचयेत् ।
अविमूत्रेण संयुक्तं श्रेष्ठं सर्व(शीर्ष)विरेचनम् ।
धूमं च सर्वगन्धानां कुष्ठं च सविवर्जितम्(?) ।
धूमवर्तिं पिबेत्ताटक् श्रेष्ठं शीर्षविरेचनम् ।

(शीर्ष विरेचनगुणाः ।)

शिरसस्तु विरेकेण कर्णजिह्वाक्षिनासिकाः ।
विशुध्यन्ते यथा दोषं मुखं रसवहानि च ।
विवर्णखानि विशदं निरुन्नेषा प्रसिच्यते (?) ।
सम्यक् शिरसि संशुद्धे वेदना चोपशम्यति ।
व्याधौ च भङ्गचूर्णत्वं स्त्रोतसां सु(शु)चिशुद्धता ।
तथैवाति विशुद्धेषु स्त्रोत्व(त)स्त्रा(स्त्रा)स(प्या)यते शिरः ।

(नस्यचिकित्सा रोगाः) ।

दन्तचाले हनुस्तम्भे मन्यास्तम्भे शिरोग्रहे ।
बाधिर्ये कर्णशूले च कर्णमूलाच्च भेदने ।
अव(प)तन्त्रे केशसादे प्रबोधे दृष्टिविभ्रमे ।

हिक्कामूत्रमुखस्त्रावे स्वरभेदेऽथचाग्रहे ।
 गण्डौष्ठमुखचालेषु कासेषु तिमिरेषु च ।
 दौर्गन्ध्ये मुखनासाभ्यां पालित्ये वाऽप्यकालजे ।
 ऊर्ध्वजतुगता ये च रोगास्त्रपरीकीर्तिताः ।
 नस्य कर्म हितं तेषां तैलं वा सर्पिरेव वा ।

(नस्योपयोगि तैलघृतम् ।)

जीवकर्षभका द्राक्षा पिप्पल्यो मधुकं बला ।
 प्रपौण्डरीकं मेदा च शर्करा नीलमुत्पलम् ।
 निदिग्धिका चांशुमती नीलिका सैन्धवं वह्ना ।
 रास्ना श्वदंष्ट्रा मञ्जिष्ठा बृहती सपुनर्नवा ।
 एभिर्व(ः)प)लसमै(ः)सिद्धं तैलं वा यदि वा मृ(ष्ट)तम् ।
 चतुर्गुणैः पयसा नस्यं तत्परमुच्यते ।

(नस्यतैलस्नेहगुणाः ।)

नस्यतां(तः) स्नेहपानेन दृ(ह्)ष्टरोमा दृढेन्द्रिया(यः) ।
 अवलिम्प्य लिङ्गप(ह)ति(हिं) चक्षुषा जायते नरः ।
 कर्णाक्षिनासावक्त्राणां स्नेहेनावृत्त्य तर्पणम् ।
 इन्द्रियाणां विमुक्तत्वं प्रसादे(दः)श्व(स्व)रवर्णयोः ।
 स्त्रोव(त)सां विमलत्वं च नस्येन स्निग्धलक्षणम् ।

(अस्निग्धातिस्निग्ध लक्षणे ।)

अस्निग्धलिङ्गं रूक्षत्वं स्त्रोतसां ति(रि)क्तता तथा ।
 शिरसो गुरुदुःखत्वं स्त्रोतसां स्नेहपूर्णता ।
 कर्णतालु(लू)पदेहश्च नस्यातिस्निग्धलक्षणम् ।

(निरूहायोग्यनिर्णयः ।)

नाजीण नार्द्रशिरसि पथ्यान् गन्तुमिच्छता(तः) ।
 न पीतमात्रे पानीये ज्वरितस्य न दापयेत् ।
 न मैथुनं गतवतः मद्यपीतस्य नैव च ।
 नावलम्बस्य.....वृत्तस्तथा(?) ।

(सम्यङ्निरूढादिलक्षणम् ।)

सम्यङ्निरूह(ठ)स्य च रुक्मरुजा सम्यक् प्रशाम्यति ।
यतो मूत्र पुरीषाभ्यां यतो यस्य निवर्तते (?) ।
निरूहस्तं भिषक् दद्यादनिरूढस्य लक्षणम् ।
तथैव द्या(व्या)धिरात्मा(धा)नं शूलं विण्मूत्रनिग्रहः ।
पूर्णकुक्षित्वमानाहो दुर्निरूह(ठ)स्य लक्षणम् ।
निरूढस्य पुनर्यस्य शोणितं संप्रदुष्यति ।
अतीव तु निरूढस्य निःपुरीषस्य मारुतः ।
शूलेनावेष्ट्यमानस्य सर्वगात्राणि पीडयेत् ।
इति पञ्चविधं चोक्तं व्याख्यातं समुपाचरेत् ।
पञ्चकर्मविधानञ्चो राजाहो भिषमु(शु)च्यते ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले सिद्धिस्थाने द्वितीयोऽध्यायः । (१)

(इति भेले सिद्धिस्थाने तृतीयोऽध्यायः ।)

अथातो दशव्यापदीयां वमन विरेचनसिद्धिं

व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(वमनप्रयोज्यौषधानि ।)

अधोभागोर्ध्वभागानि भैषजानि प्रयत्नतः ।
कल्पयेन्मतिमान्वैद्यो विप्रशस्त्रनिभानि तु ।
कटुतिक्तकषायाणि विदाहीनि(नौ) तराणि च ।
सूक्ष्माणुणानि तोक्ष्णानि विथन्दीनि गुरुणि च ।

तानि संप्राप्य हृदयं वमनं प्रतिपद्यते ।
 तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव दोषान्निष्यन्दयत्यपि ।
 सूक्ष्माच्छुरौरावयवात्सौक्ष्मप्रादनुसरन्ति च ।
 विस्त्रावयति धातूँश्च विमार्गैरपि देहिनाम् ।
 आनयन्तीव हृदयं दोषांस्तानति मूर्च्छितान् ।
 आमाशयं पूरयित्वा ऊर्ध्वभागभवांस्तथा ।
 एकमेव च विष्यन्दं संपूर्यामाशयं पुनः ।
 अधोभागे प्रवर्तन्ते विकारा इह देहिनाम् ।
 संशोधयत्यतः पञ्चादूर्ध्वं वा यदि वाऽप्यधः ।

(दुष्प्रयोगनिमित्तदशव्यापन्नाम् ।)

तेषां तु दुष्प्रयुक्तानां विभ्रान्तानां विधावताम् ।
 अयोगाच्चातियोगाच्च जायन्ते व्यापदो दश ।
 परिस्त्रावस्तथाऽऽभानं विबन्धो गुदनिस्स्रवः ।
 हृद्रोगश्चैव शूलं च तथैव परिकर्तिका ।
 जीवादानं शिरोरोगं(गो) दशमी च प्रवाहिका ।

(दशव्यापन्निरसार्थानुवासनादिः ।)

तासामेकैकतस्मिद्धिं व्यापदां तु निबोध मे ।
 अथातिपीत्वा वमनं त(न)स्य(स्यं) तीक्ष्णतरं पिबेत् ।
 अनुवाना(स)न्न(न)सिद्धेश्च संशोध्य(ऽऽ)स्थापयेन्नरम् ।
 असिध्यति विरेके(ऽ) वि(पि)भूयस्तमनुवासयेत् ।
 अस्मिन्नपि जरांयाति (?) ब्रह्मादूर्ध्वं पिबेद्धृतम् ।
 स्नेहस्वेदोपपन्नश्च लघु च प्रतिभोजितः ।
 विरेचनं च वमनं नरस्तीक्ष्णतरं पिबेत् ।
 यदा विरेचनं पीतं वमनायोपपद्यते ।
 प्रयोग एष वमने विरेकेऽपि च यत् स्मृतः ।

(आभानादि प्रत्येकनिमित्तविवेकः ।)

स्नेहस्वेदविमुक्तं च क्रूरकोष्ठं च देहिनम् ।
 अजीर्णौषधं पीतं रं(मा)श्नापयति मानवम् ।

लङ्घितस्य सुभुक्तस्य रुक्षस्थानशनस्य च ।
 परिकर्तः परिस्रावः प्रलेपः स्वेदितस्य च ।
 स्नेहस्वेदविमुक्तस्य मृदुकोष्ठस्य देहिनः ।
 दोषास्त्वथ च सांशस्य जनयन्ति प्रवाहिकाम् ।
 अतिरौच्यादतिस्नेहादौषधानां च संभ्रमात् ।
 नृणां शूलं प्रभवति गुदस्तंभश्च दारुणः ।
 वमने रेचने दाऽपि तथा वेगविधारिते ।
 वातपित्तकफाः क्रुद्धाः कुर्वन्ति हृदयग्रहम् ।
 तस्य गात्राणि सि(वि)ध्यन्ति क्लमः शूलश्च दारुणः ।
 शिरोग्रहश्च को.....(?) विसंज्ञश्च भवत्यपि ।
 स्विन्नस्य मृदुकोष्ठस्य स्नेहितस्य विरेचनम् ।
 अतिमाचौषधं पि(पी)त्तं(तं) जीव(र)दानाय कल्पते ।
 तुषां शुक्रस्य सक्तं तृष्णां वा रक्तमेव वा (?) ।
 लोभ्रपुष्पसवर्णं था भण्डिपुष्पनिभं तथा ।
 प्रविरिक्तो यथा(दा) शीतां क्रियां समुपसेवते ।
 करणानि च शीतानि वारि शीतं च सेवते ।
 स्त्रोतांसि कुपितो वायुस्तस्य चावृत्त्य तिष्ठति ।
 खरोभवति तेनास्यं दोषा स्कन्दन्ति देहिनः ।
 वातमूत्रपुरीषाणां अभ्र(भि)वृत्ति(द्धिः)स्तृषा ज्वरः ।
 विबन्ध एष व्याख्यातो भिषजा बुद्धिविभ्रमात् ।
 अस्निग्धं तु यथा(दा) रूक्षमौषधं पाययेद्भिषक् ।
 गृह्णाति कुपितस्तस्य सर्वगात्राणि मारुतः ।
 कटिपृष्ठशिरोग्रीवाहृदयं च यदाऽनिलः ।
 प्रपद्यते तदा मोहां(हं) पित्तनाशं च गच्छति ।
 दशैता व्यापद(ः)प्रोक्ता रूपैर्नानाविधैः पृथक् ।
 (अयोगिनः स्वेदानुवासनादिचिकित्सा ।)
 चिकित्सां तां सुकुर्वीत यथाऽऽत्रेयस्य शासनम् ।
 तत्रायोगिनमभ्यर्थं(ज्य) तैलेन स्नवणेन च ।

सङ्करप्रस्तलि(र)श्चि(स्वे)त्यै(दै)र्नाडीस्वेदैरथाऽपि वा ।
 सभ्यङ्गिरूढं विश्रान्तं परिपीय सुखाम्बुना ।
 जाङ्गलेन रसेनैव भोजयेद्भृदुमोह(द)नम् ।
 फलतैलेन कोष्णेन ततस्तमनुवासयेत् ।
 आत्मा(ध्मा)नं परिकर्ता(र्तिः) च परिस्रावश्च शाम्यति ।

(सालादिष्टुत स्नेहादि चिकित्सा ।)

सालो रुबूकस्त्रिफला र्द(द)न्ती चित्रक एव च ।
 सर्पिरेभिर्विणा(प)क्कं च पाययेच्च यथाबलम् ।
 तत् स्नेहपोतं सुस्निग्धं स्वेदकर्मोपपावि(चि)तम् ।
 वमनं रेचनं वाऽपि पाययेत्तोच्छामौषधम् ।
 हृद्ग्रहो गात्रहर्षश्च शीर्षकण्ठग्रहस्तथा ।
 विबन्धः परिकर्तिश्च शूलश्चासे(ने)न शाम्यति ।
 परिकर्तिः परिस्रावो यथा तत्त्वेन शाम्यति ।
 कषायवस्तिं प्रणयेत् पिचाचा(च्छा) वस्तिमथाऽपि वा ।
 सृतं मधुरसं वाऽपि क्षीरवस्तिं प्रदापयेत् ।
 जीवनीयोपसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् ।
 एरण्डमूलं त्रिफला द्राक्षा काश्मन(र्य)मेव च ।
 एभिः सृतं पयो दद्यात् द्विविधैरपि(धि) निश्रयेत् ।
 यावशूको भवेत् क्षारः सैन्धवं साम्लवेतसम् ।
 हिङ्गु दाडिमसारश्च पिप्पल्यो विश्वभेषजम् ।
 सर्पिषा पयसा वाऽपि मद्येनोष्णोदकेन वा ।
 भू(पौ)तं निवर्तयेत् मू(शू)लं तीव्रं च परिकर्तिकाम् ।
 देवदारुं च बिल्वं च रास्ना कर्कटकाह्वया ।
 एरण्डोप्यथ पूतिश्च तैलमेभ(भि)वि(र्विपाचयेत् ।
 तेनानुवासयच्चैनं तदा संपद्यते सुखम् ।
 गात्रस्तम्भश्च शूलश्च परिकर्तिश्च शाम्यति ।

(वमनाद्यतियोगे विरेचनादिचिकित्साः) ।

उपद्रवाणामेतेषां शान्तिर्यदि न विद्यते ।
 तेषां चिकित्सितं कुर्यात् यथा खं खं चिकित्सितम् ।
 अतिप्रवृत्तौ(त्ते) वमने विरेचनमुपाचरेत् ।
 विरेचने चाऽतियुक्ते वमनं पाययेद्भिषक् ।
 वमने चातियुक्ते तु कार्यमास्थापनं भवेत् ।
 उभयोरतियोगे तु स्तम्भसं(नं) हितमुच्यते ।
 उल्लिखेत् क्षौद्रयुक्तेन स नरस्तण्डुलाम्बुना ।
 पादौ(दो) व(प)रि लिपेद्वस्त्रौ तथा वाप्यवगाहयेत्(?) ।
 लामज्जकमृणालैश्च चन्दनैश्च सपद्मकैः ।
 सन्दिह्यात्सर्वगात्राणि कषायैश्चावसेचयेत् ।
 धातकी मधुकं लोभ्रं पद्मं मोचरसस्तथा ।
 नीलोत्पलं समङ्गा च कटफलं पद्मकेसरम् ।
 एतैर्लोहितशरी(ली)नां सिद्धं पेयं सुशीतलम् ।
 पिबेन्माक्षिकसंयुक्तं तदा ह्यास्थापनं परम् ।

(रक्तशूलादौ वमनाद्यौषधानि ।)

लाक्षा लोभ्रं समङ्गा च माक्षिकं कमलोत्पलम् ।
 आजैन पयसा पीतं रक्तशूलेन मुच्यते ।
 रसं कपित्थपत्रस्य पाययेन्मधुसंयुतम् ।
 पयसा बादरं द्राक्षां मधुना च पिबेन्नरः ।
 रसाश्च जाङ्गला देया व्यक्ता दाडिमसारकैः ।
 घृतदाडिमसंयुक्ता देयाः स्युः क्षीरवस्तयः ।
 अतिप्रवृत्ते रक्ते तु रक्तमेवानुपाययेत् ।

(रक्तातियोगे आस्थापनविशेषाः ।)

शाशं मार्गमथौरभ्रं भागं(गावं) माहिषमेव वा ।
 ओदनं पयसाऽऽमृद्य परिपूतं समाक्षिकम् ।
 पिबेदिक्षुरसैर्वाऽपि परिमद्यौदनं पुनः ।

न्यग्रोधोदुम्बरप्लवितसास्त्र(श्च) भ(व)जै(है)स्तथा ।
 शृङ्गेर्येषां क्षीरेण यवागू(ग्वा)स्थापनं परम् ।
 पद्मं शाल्मलिनिर्यासः समङ्गा धातकी तथा ।
 जम्बाम्बसारो मधुकं लाजा लाक्षा प्रियङ्गवः ।
 अतिशृतं पयः पेयं यवागूश्चापि पाययेत् ।
 तण्डुलोदकयुक्तानि पिवेद्वा मधुना सह ।

(कोरदूषौदनस्थानुपानविशेषसं-
 युक्तस्थातीसारनाशकत्वम् ।)

ओदनः कोरदो(दू)षाणां मधुना सस्यसंयुतः ।
 मलाङ्कः (१) क्षारसंयुक्तः अतिसारं निवर्तयेत् ।
 संयुक्तं तिलतैलेन सप्तरात्रस्थितं दधि ।
 कोरदो(दू)षा(षो)ध(द)नोपेतं अतिसारप्रणाशनम् ।
 सप्तरात्रं स्थितं तक्रं मूलकं साधयेद्भिषक् ।
 कोरदूषौदनो योज्यः तेनातीसारनाशनम् ।
 वटाङ्कुरा(रो)मोदरसो लोभ्रमाम्नास्थिकन्दकः ।
 तरुणानि च बिल्वानि धातकी कुसुमानि च ।
 पञ्चरात्रस्थिते तन्त्रे यूषमेभिस्तु कारयेत् ।
 कोरदो(दू)षा(षौ)दनो योज्यस्तथाऽतीसारनाशनः ।
 नीलोत्पलं नीलतिलाः समङ्गा लोभ्रमेव च ।
 क्षीरं विपाचयेदेभिरतीसारविनाशनम् ।
 तिलतैलं तथा लोभ्रं आजं क्षीरं विपाचयेत् ।
 प्रवाहिका गुदभ्रंशः सर्वमेतेन शाम्यति ।
 बला चातिबला बिल्वं एरण्डं चोरकं(कः) तथा ।
 एभिर्विपाचयेत् क्षीरं कफपित्तप्रणाशनम् ।
 हनुस्तंभे च पातव्यमर्शःशूले च दारुणा(णि) ।
 अनेनैव च कल्पेन कुर्याच्चावरणं भिषक् ।
 तेन मूर्च्छा भ्रमश्चैव प्रशाम्यति शरीरिणाम् ।

उपद्रवाश्च येऽप्यन्ये तेषामेतच्चिकित्सितम् ।
 शर्करा पद्मकोशीरन्यग्रीधोदुम्बरास्तथा ।
 एभिर्विपाचयेत्तैलं तृणादाहप्रणाशनम् ।
 क्षीरवस्तिं विदद्याच्च पिच्छावस्तिमथापि वा ।
 अतियोगे प्रशंस(स्य)न्ति(न्ते) शीताश्च घृतवस्तयः ।

(गुदभ्रंश-विबन्धादि चिकित्सा ।)

जीवादानचिकित्सायां यत्पूर्वं परिकीर्तितम् ।
 तत् कर्तव्यं गुदभ्रंशे तथा संपद्यते सुखम् ।
 वातशूले तु संजाते सङ्हरप्रस्तरादिका(न्) ।
 स्वेदांश्चैवोपदाहंश्च स्वव्य(भ्य)क्तानां प्रयोजयेत् ।
 वचां श्वदंष्ट्रां पूरि(तौ) कां पञ्चमूलीं च साधिताम् ।
 यदुपस्थापनं यद्यात् सङ्क्षोणांभा(भो)नुवासर(न)म् ।
 क्षारैः क्षारैघृतैश्चापि शूलघ्नैः समुपाचरेत् ।
 दाडि(धि)कं षट्पलं वापि पाययेन्मात्रया घृतम् ।
 एवमेव विबन्धेऽपि विधिं कुर्याच्चिकित्सकः ।
 य(र)च्च(श्च)व्यापत्तया(यः) शश्वदमने च विरेचने ।
 ताच्चि(श्चि)किच्चे(त्से)त मतिमान् यथा स्वे स्वे चिकित्सिते ।

(वमने विरकस्थ विरेके वमनस्थ च निमित्तादि) ।

ग्राम्यानुपोदकं मांसं स्नेहिता(तो)योप(ऽपि)सेवते ।
 कफप्रवृद्धे तस्याशु विरेको वमने भवेत् ।
 अजीर्णे चौषधं पीतं मद्यं वा यदि वा बहु ।
 उत्के(तुल्ले)शे चोर्ध्ववाते च दुर्युक्ते वाऽपि भेषजे ।
 एवं विरेचनं पीतं वमनायोपपद्यते ।
 कर्षितैरुच्यतेवापि सुकुमारे सुदारुणे (?) ।
 असंजातकफस्यैव न च स्निग्धस्य देहिनः ।
 कृदंनं स्थितचक्षुर्वा विरेकायोपपादयेत् ।
 तन्नानुपानमेवेह केचित्केचिच्च संप्रति ।

भेषजं ह्यतिमात्रं तु जीवादानाय कल्पते ।
 ऊर्ध्वं दशाहात्यरतः स्नेहस्वेदोपदेहितम् ।
 पाययेत्तीक्ष्णमेवैतं(त्) भेषजं कल्पकल्पितम् ।
 सिद्धिर्विरेचनस्थे(स्यै)व वमनस्य च कीर्तिता ।
 अव्यापञ्च चिकित्साया यथावदनुपूर्वशः ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले सिद्धिस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो वस्तिमात्रीयां सिनिं(द्धिं) व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(वस्तिकर्मयोग्यविषयो मतभेदः ।)

संस्पृष्टभक्तं(क्तो) शंसन्ति वस्तिकर्म चिकित्सकाः ।
 विर(रि)क्तेष्वव(प)रे वैद्या निरुहे(हे) त्वपरे जनाः ।
 त्रीण्येताण्यवराण्याहुर्न शंसन्ति विशारदाः ।

(विरिक्तवस्तिकर्मदोषाः ।)

मतं तेषामहं सम्यक् व्याहरिष्यामि हेतुभिः ।
 तदेतत्सुविर(रि)क्तस्य शीतोभवति पावकः ।
 हृदयाश्रयाणि स्रोतांसि गुदकोष्ठाश्रयाणि च ।
 प्रवृद्धो मारुतस्तस्य प(ह्य)क्ता(वा)चीनं प्रधावति ।
 शीतो करोति कायाग्निं बलं चास्यापकर्षति ।
 स्रोतसु शुद्धे(द्धा) शुद्धेषु यदि वस्तिः प्रदीयते ।
 स गम्भीरो गतः काये सर्वशो न निवर्तते ।
 छटिं पिपासां हृद्रोगं पाण्डुत्वं श्वयथुं तथा ।
 जनयेदिह तस्माद्धि विरिक्तं नानुवासयेत् ।

(संसृष्टभक्तनिरूढवस्तिस्नेहकर्मदोषाः ।)

संसृष्टभक्तस्य पुनर्जातदोषस्य देहिनः ।
 स्त्रोतस्सु मललिप्तेषु भवेत्स्नेहो निरर्थकः ।
 तीक्ष्णोत्तरनिरूहेण निरूढस्य शरीरिणः ।
 समुत्कृष्टेषु दोषेषु स्नेहवस्तिर्न शस्यते ।
 केचिच्चापि शरीरस्य रात्रिपर्युषितस्य च ।
 प्रशान्ता दोषसंज्ञानं प्रशंसन्त्यनुवासनम् (?) ।

(वस्तिकर्म निदानम् ।)

वस्तिकर्म निदानं तु शृणु मे निरुपद्रवम् ।
 स्नेहितस्य यथान्यायं विरिक्तस्य च कल्पशः ।
 स्त्रोतस्सु वललिप्तेषु भवेत् स्नेहो निरर्थकः ।
 तीक्ष्णोत्तरनिरूहेण पुनश्च स्नेहितस्य च ।
 पञ्चरात्रात्परीतस्य कारयेदनुवासनम् ।
 नोपर्प(?) स्निग्धकोष्ठस्य कर्तव्यमनुवासनम् ।
 वातो ह्यूरीकृतस्तस्य हृदये परितिष्ठति ।
 उचिता भक्तनिर्वाहे जर्ध्वरात्रं तु भोजयेत् (?) ।
 तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलेन रसेन वा ।
 दृष्ट्याततस्समाश्वासः शक्नूते विसर्ज्य च ।
 स(वा)मेन पार्श्वेण नरः संविशेच्छ्रयने समे ।
 सङ्कीचयेद्दक्षिणे च सक्थि वामं प्रसारयेत् ।
 वामोपधानं कुर्वीत शिरस्युपहितं नरः ।
 अथाप्य(स्य) प्रणयेत्तेन मृगं वंशानुगं सुखम् (?) ।
 अथ कर्मबलं चैव न हतं न विलम्बितम् ।
 निर्व्यलीको मृदुर्वस्तिव्यपनीला(ता)निलस्तथा ।
 गाढे विलानुबन्धस्या प्रशस्तो वस्तिकर्मणि (?) ।
 वेत्तद्वातपदेवस्तिः सम्यगेकेन पाणिना (?) ।
 प्रपीडयेच्चापरेण हस्तौ चापि न कंपयेत् ।

पूर्वं च गुदमस्यन्दं दन्तिहस्तौ च मानवम् ।
 प्रवर्तयेद्योत्तानं पादौ वास्य प्रवर्तयेत् ।
 सुहृतेन निगृह्णीयादन्ते वस्तौ यथा सुखम् ।
 ततः परमतो वेगानागतान्न विधारयेत् ।
 अविबन्धः सवातश्च सपुरीषस्य सिध्यति ।
 दन्तमात्रं पुनर्यस्य तैलवस्तिर्निवर्तते ।
 न स कार्यकरः प्रोक्तः तस्मान्न प्रणिधापयेत् ।
 तृषितस्य तथा रात्रिं काव्यमुष्णोदकं पिबेत् ।
 एकान्तरे च दातव्यो वस्तिर्न सततं नृणाम् ।
 अभ्यङ्गो मर्दनं चैव कोणतोयावसेचनम् ।
 उष्णोदकानुपानं च वस्तिकर्मणि शस्यते ।
 चतुर्षु त्रिषु वा वैद्यो यद्व्यं वस्ति वा पुनः ।
 स्नेहवस्तिषु दत्तेषु कुर्यादास्थापनं ततः ।
 नार्द्राङ्गितेषु स्रोतसु स्नेहेन विहितस्य च ।
 शुद्धये स्रोतसां दद्यान्निरूहान् युक्तितः सुखम् ।
 अशुद्धे मलिने कोष्ठे स्नेहवस्तिः प्रयोजितः ।
 प्रदर्शयति वैशिष्ट्यं शुक्ले पर्वव्ययाकृतम् (?) ।
 विरेचनोपनाहश्च कर्तव्यो वस्तिकर्मणि ।
 यवागू प्रतिपानं च वस्तिकर्मणि वर्जयेत् ।
 चतुर्विंशतिव(र्व)स्ते(स्त)यो निरूहा अथ सर्वशः ।
 एतत्कर्मे(र्म)ति(वि) निर्दिष्टा(ष्ट)मूर्ध्ववाते प्रदापयेत् ।
 मृदुमद्य(ध्य)मतौच्छेषु रोगेषु कुशलो भिषक् ।
 मृदुमध्यमतौच्छे च वस्तिकर्म च कारयेत् ।
 आम्यानुपोदकं मांसं पिष्टान्नं पल्लवं दधि ।
 आम्लशकविकारांश्च भक्ष्याणि विविधानि च ।
 शीतोदकस्य पानं च तथा शीतावगाहनम् ।
 गुरूणि चानुपानानि वस्तिकर्मणि वर्जयेत् ।
 शालिषष्टिकमुद्गांश्च भोजनार्थं प्रदापयेत् ।

व्यञ्जनाथ प्रदेया स्युः शशतित्तिरिलावुकाः ।
 ज्ञानवान् कु(सु)मिदा(ता)हारो वैद्यशुश्रूष एव च ।
 यस्तु वस्ति(स्ती)सु(नु) पाशी(सी)त स जीवेच्छरदां शतम् ।
 इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले सिद्धिस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो(त उ)पकल्पसिद्धिं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(वस्ति तैलादिप्रयोगः ।)

उपकल्पग(म)वो(तो) वस्तिर्नैत्रं स्नेहं च सर्वशः ।
 तेषां प्रयोगयुक्तं च क्रियाकर्म च मे शृणु ।
 बालानामथ वृद्धानां युवमध्यव(म)योस्तथा ।
 स्वस्थानामातुराणां च वस्तिकर्म प्रशस्यते ।
 सौवर्णं रजतं ताम्रं कांस्यं त्रापुसमायसम् ।
 शृङ्गवंशास्ति(स्थि)वंशाग्राख्याहुर्नेत्राणि पण्डिताः ।
 यथाक्रमं...तालि प्रधानानीतराणि च ।
 उत्तमाधममध्येषु मनुष्येषु प्रयोजयेत् ।
 गुलिकासा(नां)तु नेत्रं स्यादनूनद्वादशाङ्गुलिम्(लि) ।
 अङ्गुला कर्णिका वासातां च तत्रमयेद्बुदे (?) ।
 तत्र गोपुच्छसंस्थानं सुश्लक्ष्णं सुखकर्णिकम् ।
 प्रदेशिनीपरीणाहं...दानेन निरस्यते (?) ।
 तत्र मात्राशतं स्थित्वा तेनैव विनिवर्तते ।
 यद्यकाले नवस्नेहो मध्यमांसप्रकल्पितः ।

न्यूनकालविवृत्तस्तु तीक्ष्णत्वान्न निरुहति ।
 ततस्तु मधुरः किञ्चित् निवर्तते शनैस्त्रिभिः ।
 एवं कालगतिक्रान्तो यो वस्तिर्न निवर्तते ।
 तीक्ष्णना(मा)स्थापनेनैवं क्षिप्रं प्रतिनिवर्तते ।
 तस्मात्तीक्ष्णतरं वस्तिं पूर्वमेवोपकल्पयेत् ।
 प्राणसा(सं)धारणे ह्युच्चैर्विबन्धो न प्रशस्यते ।
 तस्मात्कालं च यो व्याधिं निरुह्याणां बलाबलम् ।
 पूर्वरूपं च के(यो)वेत्ति स मोहं न निगच्छति ।
 न त(तं)दाहस्य(ज्व) गो(रो)हन्यान्नाशनो(नि)नि(र्न)हुताशनः ।
 य(अ)दुः(तः) प्रयुक्तो(क्ति) य(तो)था(?) वस्ति(स्तेः) प्राणैः
 सद्यो(नि) योजयेत् ।

श(क)णस्त(श): प्राणहो वस्तिस्सद्यो रोगहरस्तथा ।
 सम्यङ्निवृत्तो रोगो यो ह्यनिवृत्तस्तु प्राणहा (?) ।

(वस्तिगुणाः ।)

स निवृत्तस्तु वेगेन दोषान् गम्भीरमास्थितान् ।
 उन्मार्गस्थान्नयन्मार्गं मार्गस्थांश्चानुलोमयेत् ।
 वस्तिवेगोऽनिलादन्तः पर्जन्याच्च वनोमुखाः (?) ।
 कफपित्तविकाराणि सर्वे वातरसानुगाः ।
 अशीतिवार्तिका रोगाश्चत्वारिंशत् पित्तजाः ।
 विंशतिः श्लेष्मकाश्चापि संसृष्टानामसङ्ग्रहात् ।
 सर्वेषामेव चैतेषां रोगाणां सङ्ग्रहैस्सह ।
 अर्दितानामभू(शू)ता(ला)नां वस्तिरग्रं परायणम् ।
 अनिलप्रभवा ह्येते सर्वे वस्तिवशानुगाः ।
 तस्मादर्धं चिकित्सायाः सर्वं वा वस्तिरुच्यते ।
 यस्तु वस्तिं निषेवेत चातुर्मास्यं सदा नरः ।
 रोगास्संवर्जयेयुस्तं सिंहावासं यथा गजाः ।
 एते गुणविशेषाश्च व्याख्याता वस्तिकर्मणि ।

(निरुहगुणाः ।)

निरुहैश्चास्य सामर्थ्यं उपचारं च मे शृणु ।
 स्विन्ने पर्युषिते जीर्णेऽप्यत्यन्तं च निरुहयेत् ।
 सोऽस्य मूलं पुरीषं च श्लेष्माणं चापकर्षति ।
 दातानुलोम्यं कुरुते बलं स जनयत्यपि ।
 विषस्थिरं दोषबलं यच्च नाति(भि)षु संस्थितम् ।
 विशोधयति सत्तर्वं निरुहः संप्रयोजितः ।
 रोगानि(नौ) कस्य सर्वस्य प(ह)दो(रो) नास्ति हि तत्समः ।
 व्याकुलानां च केशानां सीमन्तकरणं यथा ।
 तथा भृशं व्याकुलीनो दोषश्रेष्ठो निरुहतः ।
 निरुहो हि समायुक्तः सम्यग्वीर्यः समैर्गुणैः ।
 व्याधीनथोद्धरेत्क्षिप्रं पुण्यं युक्तं यथा नरं ।

(निरुहनिवर्त्या रोगाः ।)

कच्छमूलपुरीषाणां गुल्मिनां मितगुल्मिनाम् ।
 विरेचनान्युदावर्ते हृद्रोगे पार्श्वशूलिनि ।
 उदरेषु प्रमहेषु कुष्ठेषु क्रिमिकोष्ठिषु ।
 श्लेष्मणा सह संसृष्टे शोणितेन च दूषिते ।
 संसृष्टेन च सर्वेषु (?) सन्निवातोद्भवेषु च ।
 गम्भीरा धातवो ये च तेषां श्रेष्ठं निरुहितम् ।

(निरुहलक्षणं, तस्य चिकित्सान्तराणि च ।)

यथा कफं विरिच्येत शङ्खस्फटिकसन्निभम् ।
 ऋते मूलपुरीषाभ्यां तन्निरुहस्य लक्षणम् ।
 सशोणितं निरुहेण चाति पर्युषितं तथा ।
 सुखोषितं समास्त्र(श्व)स्थं(स्तं) भोजितं चानुवासयेत् ।
 एकतो वस्तिकर्माणि ह्येकतो हि चिकित्सितम् ।
 अमृतो(ता)पं(भं) वस्तिकर्म कुरुते न(सं) प्रयोजितम् ।

शुक्लवाहावरोधस्य नद्ययं याति देहिनः ।
 स्त्रीषु प्रसर्पणं कुर्यात् नराणां क्षीणरेतसाम् ।
 हन्याद्वाता(त)रज स्त्रीणां वन्ध्याः गर्भं लभेत च ।
 वस्तिप्रयोगाच्छ(त् ष)न्दो(रुद्धोऽपि पुमान् भवति सर्वशः ।
 कुष्ठानामपि मज्जानां मांससंजननं स्मृतम् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले सिद्धिस्थाने षष्ठोऽध्यायः ॥

अथातः फलमू(मा)वसिद्धिं व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(निरुहे मदनादि प्रत्येक निरासपूर्वक-
 फलमात्रोत्कर्ष व्यवस्था ।)

फलमू(मा)त्रं निरुहेषु श्रेष्ठमाहुर्मनोषिणः । (१)
 तेषां तु मदनं श्रेष्ठं प्रवदन्ति चिकित्सकाः ।

(१) कफपित्तहरं वरं फलेष्वथ जीमूतकमाह शौनकः ।

मृदुवीर्यतया भिनत्ति तच्छुद्धित्याह वृषोऽथ वामनः ।

कटुतुलसीफलसुत्तमं मतं वमने दोषसमीरणं च तत् ।

तदयोग्यमशैत्य तीक्ष्णताकटुरौच्यादिति गौतमोऽब्रवीत् ।

कफपित्तनिवर्हणं परं स च धामार्गवमित्यमन्यत ।

तदमन्यत वातलं पुनर्बुद्धिशो रत्नानिकारं बलापहम् ।

कुटुजं प्रशशंस चोत्तमं नवलघ्नं कफपित्तहारि च ।

अतिविड्जलमूर्ध्वभागिकं पवनचोभि च काप्य आह तत् ।

कृतवेधनमाह वातलं कफपित्तं प्रबलं हरेदिता ।

तदसाध्विति तत्र शौनकः कटुकां चापि बलघ्नमित्यपि ।

इति चर-सिद्धिं ११श-अध्याये ।

जीमूतकं प्रशंसन्ति केचिद्वामार्गवं तथा ।
 कृतवेधनमित्येके कुटजं प्राचुरप्यथ ।
 गर्हितास्सर्व एव ते(ताः) वाचः प्रत्येकशः स्मृत(ः) ।
 भेषजानां च सं-(प)ातो निरूहेषु प्रशस्यते ।
 वातपित्तकफं(फी) मां(याँ)स्तु निरूह(ँ)श्च(ः)सु(तु)पूर्वशः ।
 व्याख्यास्याम यथान्यायं सन्निपातहिताश्च ये ।

(वातनाशननिरूहः ।)

द्वे पञ्चमूल्यौ कोलानि नलदशशुष्कमूलकम् ।
 द्विपरि(ली)नालि(नि) सर्वाणि जलद्रोणे विपाचयेत् ।
 अष्टभागावशेषं तु कषायमवतारयेत् ।
 कल्प(ल्क)पेष्ठाणि चेमानि भेषजानि समावपेत् ।
 निकुञ्चिकां खरपुष्पां पिप्पलीसैन्धवे वचाम् ।
 त्रपुसोर्वाह्वीजानि शतपुष्पां यवानिकाम् ।
 कुष्ठं च तगरं चैव यष्टीमधुकमेव च ।
 सक्षीरस्सकषायश्च सगोमूत्रश्च काथकः ।
 सतैलश्च निरूहः स्याद्वातरोगविनाशनः ।

(पित्तनाशननिरूहः ।)

पटोलपत्रमूलं च पित्तुमन्दं शतावरीम् ।
 त्रायमाणां बलां रास्नां बृहतीं कण्टकारिकाम् ।
 गुलृचीं त्रिपु(फ)लां श्यामां शरिवां वंशकत्वचम् ।
 द्वीपलीकान् पृथग्भागात् पूर्वकल्पेन साधयेत् ।
 मधुकं वंशकफलं शतपुष्पां दुरालभाम् ।
 महासहामंशुमतीं कल्कं कुर्यात्पृथक् पृथक् ।
 क्षीरेणाथ कषायेण घृतेन मधुना तथा ।
 कल्पमिश्रस्सुमथितो निरूहः पित्तनाशनः ।

(श्लेष्मनाशननिरुहः ।)

दशमूलि(लं)करञ्चौ द्वौ दन्ती चित्रकमेव च ।
एकाष्ठीला तुरङ्गी च त्रिफला देवदारु च ।
पूतिकं रोहिषं श्यामा ज(व)र्ध्(क्ष)राजदणानि च ।
पृथक् पञ्च पलानेतान् साधयेत्स(पूर्व)कल्पये(व)त् ।
अथोर्ध्वभागभ्यां... (?) साधयेत्साधु योजितः ।
मूत्रतैलयुतः श्रेष्ठो निरुहः श्लेष्मनाशनः ।

(उक्लृष्टनिरुहान्तरम् ।)

अश्वगन्धां बलां रास्नां श्वदंष्ट्रां सपुनर्नवाम् ।
पटोलपञ्चमूल्यौ च भार्ङ्गी श्यामां शतावरीम् ।
गुलूचीं त्रिफलां शिग्रुं कर्णिकायाः फलानि च ।
उशीरं रजनीपत्रं पूतिकं कर्तृणानि च ।
पृथक् पञ्चपलान्ये(नि)तान् खण्डशश्केदयेद्भिषक् ।
जलद्रोणे विपक्तव्यं अष्टभागावशेषितम् ।
मधुकं शतपुष्पां च सैन्धवं सर्षपान् गुडम् ।
हृषामजमोदां च मदनस्य फलानि च ।
वचामशोकबीजानि पिप्पली कुष्ठमेव च ।
एतानि कल्कपेष्याणि भेषजानि पृथक् पृथक् ।
क्षीरतैलसमायुक्तौ घृतमूत्रसमन्वितः ।
खजेन मथितः पूतः स निरुहः प्रशस्यते ।

(निरुहार्थकषायपरिमाणादिनिर्णयः ।)

एकेन यदि वा द्वाभ्यां त्रिभिर्वाऽतिप्रमाणतः ।
किञ्चिद्यूनातिरिक्तां वा ज्ञात्वा व्याधिवलावलम् ।
कुर्युर्विंशतिवर्षाणां तत्र प्रस्थप्रमाणतः ।
अथ द्वादशवर्षाणां अर्धप्रस्थं प्रयोजयेत् ।
कषायकुडवं चात्र षड्वर्षाणां प्रयोजयेत् ।
युक्तं लवणतैलाभ्यां क्षीरेण मधुना तथा ।

कषायवस्तिं कुर्वीत स्नेहाद्धि प्रसृतं भिषक् ।
प्रसृतं मध्यमं कुर्यात् प्रसृतार्धं कनोयसि ।

(शीतमधुरादिनिरुहगुणदोषविवेकः ।)

नातिशीतं न वाऽत्युष्णं कषायमुपकल्पयेत् ।
वायुः क्षुप्यति शीतत्वादत्युष्णं तु गुदं दहेत् ।
अतिसान्द्रातिग्रथितो दोषेण सह मूर्च्छितः ।
मदप्रवेगो भवति व्यपदेश्योप(पि)जायते ।
अथवापि तनुर्यस्य कषायो-(प)जि(चि)ता भवेत् ।
सोऽल्पं हरति दोषं च न च संशोधयेद्गुदम् ।
परिकर्तं च शूलं च जनयेच्च प्रवाहिकाम् ।
अत्यर्थं मधुरो दन्तो विदग्धस्तम्भवेदनम् (?) ।
ग्रहणीं रक्तमर्शांसि पाण्डुरोगं भगन्धरम् ।
अतितीक्ष्णसु दुर्युक्तः क्षिप्रं प्रतिनिवर्तते ।
न निर्हरति दोषांश्च ज्वरं मूर्च्छां करोति च ।
ज्वरितं दह्यमानं च मूर्च्छमानं च मानवम् ।
शीतैर्मधुरसंयुक्तैः योजयेत्क्षीरवस्तिभिः ।
यस्याश्च लवणः कोष्ठे निरुहः पैत्तिका रुजाः ।
जनयेत्तत्र पुष्पं स्यान्मधुरेण निरुहणम् ।
निरुहो मधुरो यस्य श्लेष्माणं परिकोपयेत् ।
कटुकैश्च कषायैश्च निरुहे यस्य मारुतः ।
प्रतप्येदधिकं तत्र मारुतघ्न निरुहणम् ।
तस्मान्नलवणयुक्तानि द्रव्याणि मधुराणि च ।
तत् सुदद्यान् शीतानि तथोष्णाणि विरेचयेत् ।

(पित्तादियोग्यनिरुहविशेषाः ।)

पित्ते शीतनिरुहः स्यादुष्णसु कफवारतः ।
प्रश्लेष्मणि प्रवाते वा देयमास्थापनं भवेत् ।

मदनस्य फलं पिष्ट्वा तैलमच्छेन साधयेत् ।
 तन्निरुहं प्रशंसन्ति फलतैलं चिकित्सकाः ।
 गोमूत्रयुक्तमेतत् फलतैलनिरुहणम् ।
 निरुहं लवणं कुर्यात् श्रेष्ठमानाहभेदनम् ।
 बिल्वैरण्डफलं वापि पचेद्विप्रस्थसंमितम् ।
 आम्लस्य लवणे साध्यमष्टमागावशेषितम् ।
 कषाये तत्र पीलूनि कल्कपेष्याणि योजयेत् ।
 फलतैलं यतो वस्तिर्दोष आनाहभेदनः ।
 एष सर्वानुदावर्तान् सो(शो)म(फ)गुल्मान् भिनत्त्यपि
 अथ च बहिराधानं उदावर्तं विनाशयेत् ।

(पिच्छावस्तिः ।)

ओष्ठाजिह्वं पृष्ठचूर्णं सहतीक्ष्णकारिकम् ।
 चन्दनं पद्मकं चैव वृत्तं पुष्पं च शस्यते ।
 खण्डितानां यवानां तु कुडवं तत्र योजयेत् ।
 तदेकध्वं पचेत्सर्वं जले चाष्टगुणे भिषक् ।
 घृतेन मधुना चैव पिच्छां संयोज्य शक्तितः ।
 निर्वाहिकायां शंसन्ति पिच्छावस्तिमिमां बुधाः ।

(यवमूर्च्छितवस्ति प्रयोगौ ।)

अतस्तु षोडशे (?) चैव पले द्वे सपुनर्नवे ।
 कटाहकं पञ्चमूलीं यवैस्सह विपाचयेत् ।
 उपोदकायाः क्षुण्णाया स्वरसं च सुषोडितम् ।
 युक्तं तेन कषायेण घृतेन सह योजयेत् ।
 मादिकेन च संयुक्तो वस्तिस्तु यवमूर्च्छितः ।
 पिच्छावस्तिरिति ख्यातः शूले निर्वाहिकासु च ।
 तरुणं शिंशुपापत्रं कर्बुदारस्य पल्लवम् ।
 क्षुण्णैस्सह यवैस्सिद्धः संपिष्टो घृतसंयुतः ।

माक्षिकक्षीरसंयुक्तः स वस्ति(र्य)वमूर्च्छितः ।
निर्वाहिकां वातशूलं क्षतक्षीणस्य नाशयेत् ।
एते निरूहा व्याख्याता सर्वरोगविनाशनाः ।
व्याकुलेषु विकारेषु तान् भिष(क्)संप्रयोजयेत् ।

इत्याह भगवानात्रेयः ।

इति भेले सिद्धिस्थाने सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो दशव्यापदामास्थापनानुवासनसिद्धिं

व्याख्यास्याम इति

ह स्माह भगवानात्रेयः ।

(वस्तिनिरूहयोरयोगातियोगयोर्दोषाः ।)

स्नेहवस्तिनिरूहश्च द्विविधं याति विभ्रमम् ।
न युज्यते वा दुर्युक्तो युक्तो वाप्यतिपूर्यते ।
तेषां विप्रतिपन्नानां वस्तीनां व्यापदो दश ।
तासां रूपं चिकित्सां च प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
समति वा गुदे युक्तो वा.....गदपिच्यते (?) ।
पुरीषेणाट्टते वापि सनगाढं प्रपीडितः (?) ।
अर्शसा प्रतिसंरुद्धो श्लेष्मणा भिद्यते गुदः ।
गुरुतन्वयुतो वापि नेत्रवान् जीर्णसर्पिते (?) ।
न गच्छति रु(गु)दे वस्तिर्विभ्रान्तेषु च धातुषु ।
तमयोगमिति ब्रूयादतियोगं निबोध मे ।
वाताभिभूतपित्ते वा श्लेष्मणा वाभितापिस(न): ।

पुरौषेणाभिभूतश्च मारं चाति प्रपीडितः (?) ।
 न प्रत्ययावर्भी वस्तिहतस्योन्मथितस्य वा (?) ।
 गुडबल्यां तृतीयायां अशींभिर्वा निवारितः ।
 विरेचितस्य वान्तस्य मद्यशोकाकुलस्य च ।
 न प्रत्ययावभो(हो)वस्तिः ऊर्ध्वं वाति प्रवर्तते ।

(निरुह्यातियोगनिमित्ता दश व्यापदः ।)

तेषामुपद्रवा घोरा जन्यन्ते वस्तिविभ्रमात् ।
 जीवादानां तृणा कर्दिः हृद्रोगः श्वयथुस्तथा ।
 शूलमर्शांसि पाण्डुत्वं श्वासोऽथ परिकर्तिका ।
 एषां प्रत्येकशो रूपं चिकित्सां च निबोध मे ।
 गुरुकोष्ठस्य रुक्मस्य बहुदोषस्य देहिनः ।
 अस्निग्धस्य गुरुव्याधेर्यदि वस्तिः प्रदीयते ।
 अत्यल्पोऽवाथ रुक्मो वा शीतवीर्योपदस्तदा (?) ।
 लवणस्नेहनित्यो वा तनुस्मान्द्रोऽथवा भृशम् ।
 सम्बद्धबहुदोषस्य केशानुत्केशयत्यपि ।
 तत्रादौ यत्र सर्पन्ति दोषास्ते पलिता भृशम् ।
 कटावस्थूरुजङ्घे च पादपृष्ठोदरस्तदा ।
 प्रस्यं रते भवेच्चास्यं सशूलमुदरोदकम् (?) ।
 वस्तिशूलगुदावर्तो गुदशोषो ज्वरस्तथा ।
 निष्ठौवका सहृत्तासा भक्तद्वेषो विवर्णता ।
 स्निग्धस्य तस्य खिन्नस्य सङ्हरप्रस्तरादिभिः ।
 निरुहं कारयेत्तौक्ष्णं अमे(?) मा प्रतिवारुणम् ।

(बिल्वादिवस्तिः ।)

बिल्वाग्निमन्द(त्य)स्योनाक काश्मर्यारिवि(बु)पाटलाः ।
 रास्ना बला गोक्षुरकयवकोलकुलुत्यकाः ।
 एतत्सर्वं समाहृत्य(त्य) जलद्रोणे विपाचयेत् ।
 चतुर्भागावशिष्टं तं कषायमवतारयेत् ।

कल्केन सर्षपाणां च पीलूनां मदनस्य च ।
 सयवं सकषायं तु तत्तैललवणेन च ।
 मूत्राणि च यथालाभं अथ सम्यक् निरुहयेत् ।
 यथा दृति बला तत्र ।
 तत्र चादितशब्दाश्च श्रेयांसश्च च स्वकान् ।
 शान्तिं पुण्याहघोषांश्च कुर्याच्चापि प्रदक्षिणम् ।
 तं निधाय शुभे कुम्भे वस्तिं दद्यात्प्रमाणतः ।
 देव प्रसायशो (?) वस्तिर्वर्जितानां महागुणः ।
 सर्वरोगहरो वृथः क्षतक्षीररुजावहः ।
 वातपित्तसमुत्थाना रोगा ये परिकीर्तिताः ।
 कासदाहज्वरार्ताश्च सार्मा विंशतिजं ततः (?) ।
 त्रिभागमाक्षिको ह्येषः वलीपलितनाशनः ।
 रूपवर्णकरः पुंसां बलमांसविवर्धनः ।

(शतावर्यादिवस्तिः ।)

शतावरीं सहचरां रास्त्रां गौक्षुरकं बलाम् ।
 शतं शतं कल्पयित्वा तोयद्रोणशते पचेत् ।
 द्रोणावशेषितं तच्च परिपूतं निधापयेत् ।
 वह्निंकुक्कुटहंसानां मांसान्यपि पृथक् पृथक् ।
 वसा माहिषवाराह प्रघाणां प्रस्थसंमितम् ।
 विदार्यामलकैर्दूणां रसप्रस्थान् पृथक् पृथक् ।
 तत्र तैलघृतप्रस्थं क्षीरमष्टगुणं भवेत् ।
 तन्नोमयाग्निना युक्तं कल्पेनानेन साधयेत् ।
 तुगाक्षीर्यामलक्यौ च द्राक्षा मधुकचन्दनैः ।
 मधूलिकापटोलाभ्यां पत्रं नीलोत्पलस्य च ।
 विशालां च मृणालां च कपिकच्छुपलानि च ।
 खर्जूरौदकपाके च शीतपाके निदिग्धिका ।
 जलमज्जात्वचं पत्रं क्लीबैरं समहासमम् (?) ।

जीवकर्षभका मिदा पिप्पल्याश्चापि संहरेत् ।
 तत्त्रिङ् शीतलीकृत्य क्षौद्रप्रस्थे नियोजयेत् ।
 तत्र वादितशब्दं च कुर्यात् स्वस्थयनानि च ।
 गजस्कन्धं समारोप्य श्वेतच्छ्वानुपालितम् ।
 चेलातयाश्च(?) कुर्वीत साधुशब्दांश्च सर्वशः ।
 ततोऽस्मिन् दापयेद्वस्तिं पुण्याहनि रसायनम् ।
 वस्तिनानि दत्तेन गच्छेन्नारीशतं नरः ।
 न वातयन्त्रणा काचिदुक्ता नाडिविभारजा ।
 वृषो बलकरो वस्तिराप्त आयुर्विवर्धनः ।
 परीपतितपालित्यं सेवमानो नियच्छति ।
 षण्डांश्च पुरुषान् कुर्यात् लक्ष्णाय गुणं विना ।
 क्षीणान् क्षतान् नष्टशुक्लान् विषमज्वरपीडितां ।
 योनीनां व्यापदा वन्ध्यां वास्तिरेष व्यपोहति ।
 गुलूचीस्वरसप्रस्थं ग्राहयेदन्तपीडितम् ।

(रासायनिकवस्तिः ।)

शतावरीरसप्रस्थं तद्वत्सहचरस्य च ।
 विदार्यामलकेक्षूणां द्राक्षाखर्जूरयोरपि ।
 पृथक् कुर्याद्रसप्रस्थं प्रस्थौ द्वौ तैलसर्पिषोः ।
 आजमाहिषगव्यानि क्षीराणि द्विगुणानि च ।
 क्षुसपिष्टानि चेमानि पेषयित्वा विपाचयेत् ।
 वधूटिकासुचटां च मधुकं पिप्पलीमपि ।
 शृङ्गाटिकं पुष्करिकां काण्डं नीलोत्पलस्य च ।
 जीवकर्षभकामिदां बलां नीलोत्पलस्य च ।
 तुगाक्षीरं महामिदां पुंडरीकस्य केसरम् ।
 वृषभेषचकोराणां हंसकुक्कुटयोरह(पि) ।
 जीवं जीवकमुन्मात्तिकुररीक्षौ च बर्हिणाम् (?) ।
 वसा मज्जा च सत्वानां भेषमांसरसैस्सह ।

त्रिभागं मात्त्रिकं चैव कुर्यात्सम्यग्विपच्यते ।
 शङ्खभेरीनिनादैश्च पटहैर्वा मुरीस्त्रनैः ।
 सममेतं गजस्कन्धे श्वेतकृत्तध्वजायुधम् ।
 सिद्धानां परमं देवं महर्षिगणसेवितम् ।
 शरणं सर्वभूतानां अर्चयेद्दृष्टमध्वजम् ।
 अशौर्भिर्मङ्गलकामैः सतीभिर्देवतार्चनैः ।
 रसायनानि सिद्ध्यन्ति विपरोतानि नलम् (?) ।
 तं स्नेहं गमयेद्वस्तिं रासायनिकमुत्तमम् ।

(उक्तरसायनगुणाः ।)

अथाहारविहारानां नचैनं यन्नचेद्भिषक् (?) ।
 व्यापन्नयोनयो बन्ध्या रक्तगुल्मन्य एव च ।
 यामावृत्य व्रातयते याश्च नस्थानुवस्तयः (?) ।
 नस्यशुक्लक्षतक्षीणा विषमज्वरपीडिताः ।
 प्रक्षीणमांसरुधिरा बलोपलितपीडिताः ।
 आशु प्रशमयेद्दोगान् तानायुर्मांसवर्धनम् ।
 रसायनमिदं श्रेष्ठं नराणाममृतोपमम् ।
 रसायनविधानानि प्रोक्तान्येतानि यानि च ।
 सहस्रशतपाकानि कार्याणि विभवे सति ।
 मधुकं सैन्धवं कुष्ठं शतपुष्पहरणवः ।
 मदनानि च रास्त्रा च भाङ्गी नौपरकज्वलम् (?) ।
 मरि.....(?) ।
 मयूरकुङ्कुटं वापि वेश्वारं सुकूर्चितम् ।
 सहितं दशमूल्या तु जलद्रोणे विपाचयेत् ।
 रसस्य तस्य पूतस्य प्रसृतार्धं च दापयेत् ।
 वसातैलघृतानां तु मधुनः प्रसृतद्वयम् ।
 हपुष्पा (?) पुष्पाणां सुस्तानां चापि कार्षिकम् ।

कल(ल्क)पेथं पुनर्दद्यात्स वस्तैर्लवणं सुखी ।
 पादगुल्फोरुजङ्घासु त्रिकवर्णवस्तिषु ।
 शिश्ववृष्ययोश्चैव वातरोगं नियच्छति ।
 मृगाणां तित्तिरीणां च तथैव बलवा...नाम् ।
 आनूपानां खगानां च कल्कमेतत्प्रयोजयेत् ।
 दुग्धं मधु च तैलं च तस्मादुष्णोदकं समम् ।
 द्वौ पुष्पौ शतपुष्पाणां कर्षश्च लवणोत्तमम् ।
 एष रासायनो वस्तिर्दीपनोऽथ वृंहणः ।
 बलवर्णकरो वृथः पावनो निरुपद्रवः ।
 गुल्मोदावर्तमाभानं प्रमेहक्रिमिकोष्ठिनाम्
 नित्यं गाढपुरीषाणां वस्तिरेष यथा स्मृतः ।
 घृतं मधु च तैलं च तासां हीनं समं भवेत् ।
 पूर्वकल्पेन देयानि स वस्तिर्बलवर्णकत् ।
 वस्ती मेढ्रगते दोषे विधिसात्स्यचिकित्सिते ।
 पैत्तिके मूत्रकृच्छ्रे च पित्तव्याधिषु चोत्तमः ।
 तुल्यं च वाऽथ क्षौद्रं च तासां मांसरसस्त्रयः ।
 अक्षमात्रं च मुस्तानां स वस्तिः पूर्वकल्पये(व)त् ।
 गुल्मो(ल्फो)रुजानुपृष्ठेषु सर्वतस्तन्निषु च ।
 पलाशपादवर्षेषु (१) वस्तिः प्रशमनः स्मृतः ।
 वस्ती वृषणमेढ्रेषु गुल्ममाशु नियच्छति ।
 त्रिकजानूरुपृष्ठादिवेदनां चापकर्षति ।
 मृदुत्वा ग्न(त्र)प्रवर्तन्ते क्षुद्यन्ते वस्तयश्शिवा(रा)ः ।
 तत्क्षीरास्थापनं कार्यं क्षिप्रं प्रतिनिवर्तयेत् ।
 मृदुत्वाद्वापनानां तु केचिद्विभ्रमभौरवः (१) ।
 निदानानां कषायेण योजयन्ति चिकित्सकाः ।
 एवमप्येष विभ्रान्तो न निरुहेण वा पुनः ।
 वस्तयः कल्पदृष्ट्या हि यथा काले सुखावहाः ।
 क्षीणातिरिक्ता दूष्यन्ते तस्माद्योगं समाहरेत् ।

नित्यं नारीविहाराणां क्षीणानामल्परेतसाम् ।
एवमेव विधाने च रेतो बलविवर्धनम् ।

(शुक्लविवर्धनवस्तयः ।)

क्षत्वान्विहारा(?) वक्ष्यामि वस्तिं शुक्लविवर्धनाम् ।
रसः कर्कटकानां तु शर्करामस्तुसंयुतः ।
घृतसौवर्चलयुतो वस्तिर्वृष्यतमः स्मृतः ।
हंससारसलावानां तित्तिरिक्त्रौञ्चवर्हिणाम् ।
कल्पेनानेन कर्तव्या वाजीकरणवस्तयः ।
पयः कूक्कुटमांसेन विपक्वं मधुसंयुतम् ।
चटकान्तरसं चैव कुक्कुटाण्डरसं तथा ।
घृतमाक्षिकसंयुक्तः शर्करासैन्धवैर्युतः ।
एष धास्तिः स्मृतो वृष्यः मांसशुक्लविवर्धनः ।
येषां शतं वा षष्टिर्वा नारीर्गच्छति मानवः ।
एष वर्णबलोत्साहो स्थावरेऽपि प्रदुष्यते ।
तिमिङ्गिले वा मकरे पाठीने नक्रमीनयोः ।
दुग्धे कूर्मे च कुशे कल्पयेच्छिंशुमारवत् ।
वाराहवस्तवृषणौ वृषणौ गोवृषस्य च ।
चटककर्कटकांश्चैव क्षीरेण सह साधयेत् ।
तन्निरुहं तु शुक्लेण वस्तीनामथ मशयेत् ।
उच्चके(टे)क्षुरसं चात्र कल्कपेयं समावपेत् ।
घृतमाक्षिक संयुक्तं प्रणीतः शर्करायुतः ।
किञ्चिल्लवणतो वस्तिर्गमयेत् स्त्रीशतानि वै ।
एष नारीविहाराणां वर्धनः पुरवासिनाम् ।
रेतोबलकरः श्रेष्ठः क्रीडावस्तिरनुत्तमः ।
आत्मगुप्ताफले क्षीरमुच्चटेक्षी(क्षु)रकैः(सै) स्मृ(क्त)तम् (?) ।
आजिन वाऽनुपानेन वृष्यार्थं संप्रयोजयेत् ।
रसायना वस्तयस्तु ये मया पूर्वदर्शिताः ।

तानेतैर्मांसनि(नी)रूहे यीं जयेत्कल्पकल्पितान् ।
 बभ्रुसूकरखड्गांश्च क्वागगोरुहिषांस्तथा ॥
 क्रौञ्चकारण्डवान् क्रौञ्चचक्रवाकवकांस्तथा ।
 निरुहमेषां संहत्य लाभतस्साधु योजयेत् ।
 क्षीरं पनसबीजानि कपिश(क)च्छुब(फ)लानि च ।
 उच्चपे(टे)क्षुर(क)बीजानि मधुकं वलमरुकम् ।
 पिप्पल्यः शारिवा द्राक्षा खर्जूरौ मदनान्यपि ।
 जीवकर्षभकौ मेदा बीजं नीलोत्पलस्य च ।
 गर्भं गर्भेण तस्मिन् चटकाण्डरसायुतम् ।
 शर्करा मधुसंयुतम्..... ।

॥ उपरि ग्रन्थपातः ॥



५१/५६